

**TEXT CUT WITHIN
THE BOOK ONLY**

**TEXT FLY WITHIN
THE BOOK ONLY**

**TEXT CROSS
WITHIN THE
BOOK ONLY**

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_180444

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H2 1001 Accession No. 61121

Author

Title _____

This book should be returned on or before the date last marked below.

प्रेमचंद : उनकी कहानी कला

सत्येन्द्र

प्रकाशक
साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा ।

प्रथमवार १०००



मूल्य: तीन रुपये



मुद्रक
साहित्य-प्रेम, आगरा ।

कृतज्ञता—ज्ञापन

प्रेमचंद की कहानी-कला पर यह पुस्तक आज प्रकाशित हो रही है। कई वर्ष पूर्व इसके लिखने का संकल्प हुआ था। पर परिस्थितियों के वश यह काम लग कर नहीं हो पाया। यथार्थ संकल्प तो प्रेमचंद पर पूर्णतः अध्ययन करने का था। यह प्रकाशन तो अभी चौथाई संकल्प की पूर्ति है। इसके आगे प्रेमचंद के उपन्यास, फिर उनकी अन्य रचनाएँ, और तब उनकी कला का विश्व-साहित्य में तुलनात्मक अध्ययन आदि तो लिखे ही जाने होंगे। मेरी धारणा यह है कि आगे का कार्य सरल है। कहानियों के वैविध्य पूर्ण विशाल समूह का अध्ययन कठिन भी था। अस्तु, यह रचना आपके समक्ष है। इसके प्रस्तुत करने में सबसे अधिक प्रेरणा मेरे हितैषी और मित्र श्री महेन्द्र जी ने दी है। उनके लिये 'मैं कृतज्ञ हूँ' अपने संबंधों के कारण, मैं ऐसा लिख भी नहीं सकता। मेरे कई अन्य मित्रों तथा विद्यार्थियों ने भी समय समय पर साग्रह इस रचना को शीघ्र ही पूरा करके प्रकाश में लाने की माँग की थी—जिनमें सर्व श्री गोपाल प्रसाद व्यास, विद्याभूषण अग्रवाल, कृष्णाचार्य, जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी, नरेन्द्र, उमापति चन्देल, मोहनलाल चेजारा आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। व्यास जी ने तो आरम्भ में मेरे लिए कुछ आवश्यक सूचियाँ आदि तैयार करने में भी सहायता दी थी। श्री नगेन्द्र नगाइच तो कई बार मुझसे इसी लिये रुष्ट हो गये थे कि क्यों मैं इसे शीघ्र प्रकाशित नहीं करा देता। उनका तो आग्रह यह भी था कि मैं इसे पी० एच०डी० की थीसिस के रूप में विश्व-विद्यालय में भेज दूँ। मैं इन सबका आभारी हूँ। इन्हीं के प्रोत्साहन से यह आज प्रकाशित हो सकी है। — सत्येन्द्र

स्नेहमयी माँ

की

पुण्य और साश्रु स्मृति को

विषय-सूची

प्रेमचन्द का परिचय

व्यक्ति—जीवन-सार—अध्ययन—डिप्टीइंस्पेक्टर—असह-
योगी—सम्पादन—अध्यापन—व्यक्तित्व—स्वभाव—उपन्यास-
पठन—प्रथम रचना—उपन्यास—लेखन तथा अनुवाद—
मन्ननद्विवेदी गजपुरी—हिन्दी में प्रकाशन—सरस्वती प्रेस—
दिल्ली का पंजाबी—नवोन्मेष—कला—काल—देश । (पृ० १-१५)

प्रेमचन्द काल का विवेचन

१९०१—कांग्रेस की शक्ति—बंग-भंग—१९११ की घोषणा—
लार्ड हार्डिज पर बम—अफ्रीका का भारतीय आन्दोलन—
सक्रिय-विरोध—नील की खेती—किसान जागृति—रोलेट-बिल—
सत्याग्रह—खिलाफत—प्रिंस आब वेल्स का वायकाट—मार्तो-
मिटो-रिफार्म—पृथक निर्वाचन—स्वशासन—होमरूल—यूरोपीय
महायुद्ध—टैक्स विरोधो आन्दोलन—हिन्दू-मुस्लिम दंगे—
साइमन कमीशन—राउंड टेबल कान्फ्रेंस—१९३५ का विधान—
प्रथम कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल । (१६-२०)

कहानी की परिभाषा का विकास

प्रेमचन्द में आलोचक-साहित्य, कहानी, उपन्यास—कहानी
की व्यापक परिभाषा—कहानी : घटना प्रधान—कहानी की
परिभाषा का विकास—निष्कर्ष । (२१-२६)

कहानियों का विविध वर्गीकरण

वर्गीकरण का मूल्य—वर्गीकरण का प्रथम आधार : स्त्री-
पुरुष—स्त्री शून्य कहानियाँ—दूसरा विभाजन : तम-सत—स्त्री-

प्रधान कहानियाँ—छी-पुरुष के सम्बन्ध की कहानियाँ—संसार-
व्यस्त मानव-सम्बन्धी कहानियाँ—तीसरा विभाजन : सूत्र
वैविध्य—कहानियों में पशु—चौथा वर्गीकरण : घटना, चरित्र,
व्यवस्था-प्रधान—प्रेमचन्द के कहानी साहित्य की घटना—
कहानियों का ढर्रा । (३८-८१)

प्रारम्भिक कहानियों के मूल तत्व

प्रारम्भिक कहानियाँ—आचार की कसौटी—घर और
संस्था—पात्रों की सजीवता—समाज—कहानियों में द्विपक्षता—
प्रारम्भ तथा निर्वाह के तत्व—निर्वाह पर विचार—परिचय—
प्रतिस्पर्धा—घटना—उत्तेजना—उग्रता—प्रशांताय—उपसंहार—
घर और व्यक्ति—जमींदार का घर—सामाजिक व्यवस्था—
कुटुम्ब—संस्था—सरकारी महकमे—पुलिस—किसानों की
अवस्था—आदर्श—यथार्थ—गांव के दृश्य—अन्य वर्णन—
संतुलित दृश्य—विद्यमानता—काव्यात्मक तत्व—प्रासंगिक
विवेचनाएँ—त्याग—प्रेम—न्याय—रिश्ते—संतान—मित्रता
उत्तरदायित्व—ईर्ष्या—संवेदना—भलाई-बुराई—आत्मा का
प्रकाश—सम्पत्ति का प्रभाव—देश-सेवा—शिक्षा-प्रणाली—आम-
तालीम—पाश्चात्य शिक्षा—व्यवस्था-विभाग—परामर्श की
कहानियाँ—इन कहानियों की प्रवृत्ति । (८२-११६)

कहानियों में विकास-वस्था

प्रारम्भिक मूलतत्वों के अवशेष—कुटुम्ब—चरित्र का शौर्य—
'जो है' तत्व की कहानियाँ—प्रेरक बुद्धि की कहानियाँ—विविध
मोर्चे—कथानक का रूप—विभिन्न समस्याएँ—साम्यवाद—
सुप्रजनन शास्त्र—शिक्षा और सभ्यता—शान्ति कहानी से
निष्कर्ष—पाश्चात्य सभ्यता का चारित्रिक तथा आर्थिक दृष्टि-

कोण—भौतिकवाद—अनात्मवाद—मानव की सद् प्रवृत्ति—
 राजनीतिक समस्या—आचरण-नीति—शोषण—मानसिक क्रांति
 हिन्दू मुसलमान - पाप-पुण्य व्यक्तिगत मनोवैज्ञानिक सम-
 स्याये—व्यक्ति और बर्ग—मुक्ति—कहानियों का धरातल—
 रूपक कहानियाँ—द्वन्द्व—रोचकता और रस - स्त्रियों का 'सत'-
 संस्विधानात्मक विशेषताये — पूर्वोत्तर प्रणाली—पूर्वोपसंहार
 प्रणाली—बड़ी कहानी -- द्विसंश्लिष्ट कहानी -- श्रृंखलाबद्ध
 कहानी—छोटी कहानी—विलक्षण आरम्भ की कहानी—कहा-
 नियों का स्वभाव भेद—कहानीकार की मान्यताये और
 विश्वास । (११७—१७६)

विकसोत्कर्ष

१६३० से आगे कहाना की परिभाषा—अन्तर के संश्लिष्ट
 चित्र—देश, काल, परिस्थितियाँ—विवाह-प्रथा—गृह-निर्माण
 का आधार—वेश्या—समस्या और गृह—खून का प्रश्न—
 दाम्पत्य जीवन में कटुता—पुरुषार्थिनी विधवाएँ—प्रेमचन्द और
 बालक—दृष्टकर्मक रूप—विविध दृश्य-विकास—तीन अवस्थाये
 —बालकों के विविध उपयोग—बाल मनोविज्ञान तथा बाल-
 जीवन सम्बन्धी तथ्य—बालक और शिक्षा—प्रेम-कहानियाँ—
 शुद्ध प्रेम कहानियाँ—प्रतियोगी का रूप—प्रेम कहानियों की
 टेकनीक—इन कहानियों के विविध बर्ग—प्रेमचन्द पर समाज
 का प्रभाव—प्रेम का स्वस्थ स्वरूप—प्रेम और विविध समस्याये
 —राजनीतिक भूमि—विविध शैलियाँ—विसर्जन । (१७७—२७२)

सत्येन्द्र जी की अन्य रचनाएँ

साहित्य की भाँकी

[तृतीय संस्करण]

आधुनिक-युग से पूर्व के हिंदी-साहित्य में जो विविध-धाराएँ प्रतिष्ठित और प्रचलित थीं उनका शोध-पूर्ण विवेचन इस पुस्तक में है, जिससे हिंदी-साहित्य की मूल प्रेरणा और प्रतिभा का सम्यक दर्शन होजाता है। साथ ही इसमें कहानी की परिभाषा और समालोचना-प्रणाली के विकास पर भी विशेष प्रकाश है। पुस्तक विद्वानों और विद्यार्थियों सभी ने पसंद की है।

हिन्दा एकाँकी

हिंदी में एकाँकियों के सम्बंध

में सर्वांगीण अध्ययन अभी तक नहीं हुआ था। सत्येन्द्रजी ने इसमें इतिहास-शोध-परिभाषा, आलोचना और विवेचन सभी का मौलिकता के साथ अध्ययन प्रस्तुत किया है। उन्होंने इसमें कई नई स्थापनाएँ की हैं, और हिंदी के एकाँकियों पर विस्तृत समीक्षा की है।

गुप्त जी की कला

[तृतीय संस्करण]

गुप्तजी पर आज तक कितने ही छोटे-बड़े ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। पर यह पुस्तक अब भी अपना अप्रणी स्थान बनाये हुए है। गुप्तजी की सभी रचनाओं में अन्तर्भूत कला का सम्यक अध्ययन इसमें आ गया है। आलोचना की नयी स्फूर्तिदायक शैली ने इसे एक विशेषता प्रदान कर दी है।
साहित्य-रत्न-भंडार, आगरा।

प्रेमचन्द : उनकी कहानी-कला

—१—

प्रेमचन्द का परिचय

जैनेन्द्र पहिले पहल उनसे मिलने गए, प्रेमचन्द ने ऊपर से भाँक कर जैनेन्द्र को देखा, और जैनेन्द्र ने प्रेमचन्द को; जैनेन्द्र लिखते हैं:—

“जो सज्जन ऊपर खड़े थे, उनकी बड़ी घनी मूछें थीं, पांच रुपये वाली लालइमली की चादर ओढ़े थे, जो काफी पुरानी और चिकनी थी, बालों ने आगे आकर माथे को कुछ ढक सा लिया था, और माथा छोटा मालूम होता था, सिर जरूरत से ज्यादा छोटा प्रतीत हुआ, मामूली धोती पहिने हुए थे, जो घुटनों से जरा नीचे तक आगई थी, आँखों में गुमारी भरी दीखी, मैंने जान लिया कि प्रेमचन्द यही हैं।”

श्री जनार्दन राय उनसे पहिले पहल मिलने गए और उन्होंने जैसा देखा, वह ऐसे है—

“मैंने उस कमरे में मुड़ कर भाँका, दो तीन व्यक्तियों से घिरी मेज पर भुकी-सी कागज पत्रों के ढेर से आच्छादित मैंने एक मूर्ति देखी, रेशमी तमाबुई, बिखरे बाल, पतली तोखी भवों पर संकुचित पर प्रभविष्णु ललाट, अनुभव की रेखाओं से खुंदा और सरल, गहरी देखने वाली आँखें, प्रेमचन्द, वही-वही, मछली के अगले पंजों जैसी ब्रुशनुमा मूछें और सारी मुद्रा पर स्वप्न-लीनता का अत्यन्त सूक्ष्म रोगन, यही प्रेमचन्द है। इसी

प्रेमचन्द की जो मूर्ति दक्षिण के हिन्दी-प्रचारक श्री ब्रजनन्दन शर्मा की आँखों में घूम रही है, वह यह है ।”

“आज भी उनके अनुभवों की गहराई बताने वाला भुर्री-दार चेहरा, करुणा से छलछलाती आँखें, उनकी जिन्दादिली को व्यक्त करने वाली मुस्कराहट, साहित्य-सेवा की चिन्ता में डूबा सिकुड़न वाला ललाट, दिमाग की उलझी हुई समस्याओं की तरह उलझी हुई मूँछें, आर्थिक दुरवस्था की घोतिका भुकी हुई कमर और पूँजीपतियों का शिकार होने की घोपणा करने वाली रक्तहीनता और सफेदी आँखों में घूम रही है ।”

श्री चन्द्रभाल जौहरी ने “मैक्सिम गोर्की की मौँ” का अनुवाद उपस्थित करते हुए भूमिका में यह बतलाया कि—

“प्रेमचन्दजी और मैक्सिम गोर्की में मुझे बड़ी समता लगती है, इन दोनों महान लेखकों के फोटो देख कर उनके चेहरे की भुर्रियों के पीछे मुझे एक-सी ही सरल बाल-आत्मा हँसती हुई दीखती है ।”

ये चित्र कुशल कलाकारों ने उपस्थित किए हैं । फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि इस लेखक की आकृति और मुद्रा को पकड़ नहीं पाये । जैसे बहुत कुछ कहना रह गया, और जो कहा गया वह सब केवल मुख की वाबत ही । फोटो तो एक जड़यन्त्र की अनुरचना है, वह उन सजीवताओं को कैसे ला सकती है ।

शरीर के अन्दर ललाट, आँख, नाक, कान, दन्त, मुख, ओष्ठ, ठोड़ी, कपोल के आकार-मण्डल में दिव्य परियों की भाँति दिव्यता रमण करती रहती है, मानों रंग-विरंगी नितलियाँ किसी स्वर्णिल अरुण लोक में मन्द स्मिति सी बिखर रही हों । जिनकी आँखों में करुणा, पर ऐसी खुमारी भी और वे पलक जिसने अर्द्ध निमीलित बड़े-बड़े पलकों के किनारे रँग रखे हों, किसी दूर की कल्पना को निकट

लाते हुए से; जिनका मुख अन्तर-प्रेम से विकल प्रत्येक के सहज चुम्बन के लिये तत्पर हुआ-सा,—पर नहीं यों रूपांकन नहीं हो सकता, वह छवि यों शब्दों में आ ही नहीं सकती। बहुत कुछ शेष रह जायगा और असन्तोष बना ही रहेगा। यह प्रयत्न जितना अधूरा रहे, उतना ही अच्छा। पात्र का ध्यान न कर दूध ही देखा जाय, वृक्ष का ध्यान न कर फलों पर ही दृष्टि रखी जाय।

तो प्रेमचन्द का जन्म सन् १८८०, सं० १६३७ में हुआ था, बनारस में पाँडेपुर मौजा उसका भी एक पुरवा लमही...वहीं ठेठ देहात में उन्होंने एक साधारण कायस्थ परिवार में इस जगत् का प्रथम दर्शन किया—अपने जीवन का प्रथम प्रभात देखा। पिता २० रुपए मासिक पाने वाले डाकखाने के क्लर्क थे, यों उन्हें उत्तराधिकार में नाममात्र की काश्तकारी भी मिली थी। प्रेमचन्द ने 'जीवन-सार' (आत्म कहानी) को इन शब्दों में आरम्भ किया है। "मेरा जीवन सपाट समथल मैदान है, जिस में कहीं-कहीं गढ़े तो हैं, पर टीले, पर्वतों, घने जंगलों, गहरी घाटियों और खड्डों का स्थान नहीं है।" जिस व्यक्ति की माता का देहान्त सात वर्ष की अवस्था प्राप्त करते करते हो जाय, और विमाता के शासन का कटु सुख भोगना पड़े। सोलह वर्ष के लगभग जिसके पिता ने अपना हाथ जिसके ऊपर से उठा लिया, जिसे पन्द्रह वर्ष की अवस्था में विवाह-बंधन में बाँध दिया गया, जिससे सन्तोष न पाकर जिसे उसकी जीवित अवस्था में ही बहुत कुछ सोच विचार के पश्चात् बिना आपेगों का शिकार बने, एक विधवा से विवाह करने के लिए अग्रसर होना पड़े, जिसने रो-धोकर, ले-देकर कष्टों और आपत्तियों को काटते हुए मैट्रिक परीक्षा पास की हो, जिसके पारवारिक जीवन की यही कुछ मोटी-मोटी घटनाएँ हों, माता की मृत्यु, अपना विवाह, पिता की मृत्यु, अपना विधवा से विवाह, फिर

सरकारी नौकरी, और उसे छोड़ प्रेस और लेखन-व्यवसाय, निश्चय ही बाहरी जीवन उसका सपाट कहा जायगा !—कुछ गड़बड़े हों, पर जिसे हम लेखक-जीवन कहते हैं, वहाँ, जहाँ का प्रेमचन्द इस पंच-तत्व के पुतले के भीतर किसी मानस-लोक में ही जन्म ग्रहण करता है, और जिससे यह मिट्टी का शरीर सम्मान का भागी हो पाता है, उस प्रेमचन्द के जीवन में पर्वत और जंगलों की भरमार दीखती है, गहरी घाटियाँ, खाई, खंदकों का वहाँ अभाव नहीं—और इसे सभी देखने वालों ने उनके सौम्य मुख की विपादभुक्त झुर्रियों में सम्भवतः देखा भी। कहीं, तभी तो यह प्रश्न नहीं उठता था कि फिर, यह उनकी मृत्यु-कर हँसी ? यह क्या थी ? तभी तो कहीं कुछ के हृदय में यह भाव उदय नहीं होता था कि उन्हें—प्रेमचन्द को शहीद क्यों नहीं कहा जा सकता ? उनकी हँसी क्या थी ? गोर्की ने कहीं लिखा है, “शायद वह लोग जिनके दिल अन्दर से पके होते हैं, बाहर से बहुत हँसा करते हैं।”

और यदि कोई सच्चा खिलाड़ी ही हो जो हारने के विप को पीकर जगत को जिताने के भाव में ही आनन्द और उल्लास दिखा रहा हो, उसे आप अपने मन में शहीद समझें, पर जवान पर नहीं ला सकते, क्योंकि मृत्यु के उपरान्त भी वह शहादत का गौरव उठा न सकेगा। वह तो यही कहेगा, मेरा धर्म, मैंने किया—बस, पर खबरदार उसे शहादत कह कर एक वर्ग की वस्तु न बनाना।

इस अन्तर के प्रेमचन्द को तो आगे समझने का उद्योग करेंगे, इसके लिए जो बाहर हुआ कुछ उसको भी जानना है। पिता की मृत्यु हो गई थी—किन्तु प्रेमचन्दजी में पढ़ने के अरमान थे, होना चाहते थे एम० ए० और एल० एल० बी० पर घर में भूँजी

भाग न थी। पाँव में लोहे की नहीं, अष्टधातु की बेड़ियां थीं, और प्रेमचन्दजी लिखते हैं “मैं चढ़ना चाहता था पहाड़ पर।”

“पाँव में जूते न थे, देह पर सावित कपड़े न थे, सँहगी अलग, १० सेर के जव थे।” क्वीन्स कालेज में पढ़ते थे। फीस माफ होगई थी, पर इससे क्या ? ट्यूशन करनी पड़ी। कार्श में “वाँस के फाटक” एक लड़के को पढ़ाने जाते। साढ़े तीन बजे कालेज से छूटते, ६ बजे ट्यूशन से; पाँच मील पैदल गांव, ८ बजे के लगभग पहुँचते, और इसी प्रकार प्रातः आठ बजे चल देना पड़ता। फिर भी दूसरी श्रेणी में मट्रिकुलेशन पास होगये। क्वीन्स कालेज में आगे पढ़ना हो ही नहीं सकता था। वहां फीस प्रथम श्रेणी के विद्यार्थी की माफ की जाती थी। हिन्दू-कालेज नया खुला था। उसमें नाम लिखाने का प्रबन्ध किया। एक सिफारिश भी कराई, पर प्रिंसिपल ने योग्यता की जाँच की पख लगा दी। इस जाँच में गणित में असन्तोषजनक बताए गए तो फार्म लेकर घर बैठ रहे। आखिर प्रिंसिपल से मिलने में कुछ फायदा ? अब ! पढ़ना तो है ही। एक वकील साहब के यहाँ ५ रुपए वेतन पर लड़कों को पढ़ाने का काम ले लिया। ३ रुपए घर भेजते, दो में अपना खर्च चलता।

“वकील साहब के अस्तबल के ऊपर एक छोटी सी कच्ची कोठरी थी, उसमें टाट का एक टुकड़ा बिछा दिया। एक छोटा-सा लैम्प ले लिया गया। एक बक्त खिचड़ी पकाली जाती और बर्तन साफ कर लायब्रेरी जा पहुँचते। इन्हीं दिनों पंडित रतननाथ दूर का ‘फिसाना आजाद’, देवकीनन्दन खत्री की ‘चन्द्रकान्ता संतति’ और बंकिम बाबू के उर्दू अनुवाद पढ़ डाले।’ पर इन पाँच रुपयों में बड़ी कठिनाई से भी काम न चल पाता था। कुछ कर्ज हो गया था, खाने को गांठ में कुछ

था नहीं, तो चक्रवर्ती गणित की कुंजी बेचकर कुछ रुपये पाने की सूरत निकाली। १) रुपए में वह कुंजी बिक्री पर वहीं दुकान पर एक छोटे से स्कूल के हैडमास्टर से भेंट हो गई। उन्होंने इन्हें १८) रुपए मासिक वेतन पर अपने यहाँ अध्यापक रख लिया, इस सन् १८६६ से ऐसी आर्थिक कठिनाई का कष्ट कुछ दूर हुआ। प्रेमचन्दजी ने लिखा है कि 'अठारह रुपए उस समय मेरी निराशा व्यथित कल्पना की ऊंची से ऊंची उड़ान के ऊपर थे।'

इसके अनन्तर वे सब डिप्टी इन्स्पेक्टर हो गए। हमीरपुर में तैनात हुए। १६०७ से कहानियाँ लिखना आरम्भ कर दिया। १६०६ में पाँच कहानियों का संग्रह 'सोजे बतन' के नाम से उर्दू में प्रकाशित हुआ। इसमें स्वदेश प्रेम की महिमा गायी गई थी। अधिकारियों को इसमें 'सिडीशन दिखाई पड़ा। जिलाधीश ने सब पुस्तकें मंगवा कर जला डालीं। फिर यह प्रबन्ध सोचा गया कि मुकदमा चलाया जाय। किन्तु एक डिप्टी इन्स्पेक्टर साहब ने इनकी रक्षा की और मुकदमा न चला। नौकरी से अलग होते होते बचे। हमीरपुर में ही इन्हें पैचिश की शिकायत हो गई। अनेकों उपचार करने पर भी दूर न हुई तो आपने तबादला कराया। बस्ती में नियुक्ति हुई। यहाँ भी फायदा न हुआ तो दौरे की नौकरी छोड़कर बस्ती हाईस्कूल में हैडमास्टर हो गए। यहाँ से बदल कर गोरखपुर पहुँचे। पैचिश पूर्ववत्। यहाँ से प्राइवेट बी०ए० भी पास कर लिया। रोग पिंड न छोड़ रहा था। जिसने जो बतलाया वही उपचार भी किया। यहीं महात्मा गांधीजी आये। गांधी मियाँ के मैदान में उनका व्याख्यान हुआ। प्रेमचन्दजी कहते हैं कि "दो लाख से कम का जमाव न था। क्या शहर, क्या देहात, श्रद्धालु जनता दौड़ी चली आती थी।

ऐसा समारोह मैंने अपने जीवन में कभी न देखा था। महात्माजी के दर्शनों का यह प्रताप था कि मुझ जैसा मरा हुआ आदमी भी चेत उठा।” निश्चय ही चेत उठा। उन्होंने अपनी २० साल की नौकरी को लात मार दी, और महावीरप्रसाद पोद्दार को साथ लेकर देहात में चले गये। चर्खे बनवाये गये और देहात में प्रचार करने का प्रोग्राम बना। यहाँ पेचिश कम होने लगी और धीरे-धीरे दूर हो गई। इस पर कितनी मार्मिक टिप्पणी प्रेमचन्द ने दी है। “गुलामी से मुक्त होते ही मैं ६ साल के जीर्ण रोग से मुक्त हो गया।” जो व्यक्ति उस संक्रामक रोग के चक्कर में पड़ा हुआ सोचता था कि अब मरा, अब मरा, वह अब स्वस्थ हुआ और देश तथा साहित्य की सेवा में अधिकाधिक प्रवृत्त हुआ। पहले तो प्रेमचन्द असहयोग में काम करते रहे, फिर कानपुर विद्यालय में अध्यापक हुए।

इसी असहयोग आन्दोलन के जमाने में कई राष्ट्रीय विद्यालय स्थापित हुए थे। ‘काशी विद्यापीठ’ भी ऐसा ही विद्यालय था। प्रेमचन्दजी कुछ दिनों तक इसमें भी हैडमास्टर रहे। ‘माधुरी’ में कुछ काल के लिए सम्पादक हुए। फिर एक वर्ष के लगभग बम्बई की फिल्म कम्पनी में काम किया। इन सब यथावकाश कार्यों को करते हुए उन्होंने ‘सरस्वती प्रेस’ खोल रक्खा था, इससे ‘हंस’ नामक पत्र निकाला। भारतीय साहित्य-पत्रिका की स्थापना आपकी ही मुख्य प्रेरणा से हुई। ‘हंस’ उसका मुख्य पत्र मान लिया गया। इस प्रकार हिन्दी और भारतीय साहित्य की सेवा करते-करते यह साहित्य-पुष्प २ अक्टूबर १९३६ को मुरझा कर मिट्टी में सदा के लिए विलीन हो गया। अभी अवस्था केवल ५६ वर्ष की ही थी और हिन्दी चाहती थी कि उनकी निष्ठावान क्रियाशीलता तथा प्रतिभा का प्रसाद और मिलता रहे।

यह उनके शरीर क्षेप का स्थूल घटनावृत्त है। इसमें हमें जो दीखता है, वह साधारण है। किन्तु किसी भी कहानी के नायक से कम आकर्षक नहीं। विधवा-विवाह, नौकरी,—परित्याग, फिल्म के लाभप्रद व्यवसाय का परित्याग, इनमें भीतर के प्रेमचन्द का कितना अटल रूप सकते-सकते प्रकट हो पड़ता है। इस साधारण व्यापार में और सहज दीनता में बड़े-बड़े कंगूरे क्या एवरेस्ट से भी ऊँचे नहीं? इनकी ऊँचाई को क्या पहुँचना और नापना सहज संभव है? जिस प्रेमचन्द में गर्व का नाम न था, जिसने अपनी सारी सेवाओं और उसकी महानताओं को व्यक्ति-दैन्य से ऐसा ढक रक्खा था, नहीं, धूल धूसरित कर रखा था, जैसे सुवर्ण के स्तूप को राख में दबा दिया गया हो, उसके इन उन्नत पीठों को कोई वस्तुतः देख न सका। जो व्यक्ति स्वयं यह कहा करता हो कि मैं कुछ नहीं, मेरे पास क्या है? यही नहीं, जो उसे बड़ा बनावे, उसका प्रतिवाद कर अपनी दीनता का ही परिचय दे, उसे कोई क्यों बड़ा माने! जैनेन्द्रजी ने लिखा है कि “मेरे मन पर प्रेमचन्दजी के साक्षात्कार की पहली छाप यह पड़ी कि यह व्यक्ति जो भी है, उससे तनिक भी अन्यथा दीखने का इच्छुक नहीं है।” मैं कहता हूँ कि यह गलत है, इतना माना जा सकता है कि वे स्वभाव में कोई ऐसी बनावट नहीं रखते थे, कि जिससे दर्शक पर यह प्रभाव पड़े कि यह कुछ रहस्य सा है, अथवा हमारे सम्मुख कुछ दिखाने को इच्छुक है, किन्तु क्या यह संभव नहीं कि वह व्यक्ति जो दीखता है, वह वस्तुतः न हो उसका स्वभाव भी तो अन्तरभाव से प्रथक हो सकता है। संयम ने उनके स्वभाव को उनके अन्तर्भाव से विलग कर उसे इस रूप में प्रकृत बना दिया था कि जैनेन्द्रजी पहले यही समझे कि यह व्यक्ति जो है, वही दीख रहा है। उस व्यक्ति के जीवन के उपरोक्त तीन चढ़ावों को क्या ध्यान से समझा

गया ? याद समझा गया होता तो यह प्रत्यक्ष होता कि यह व्यक्ति यथार्थ में जो कुछ है, वह इसके स्वभाव, मिलने-जुलने, बात, व्यवहार में उस से कहा बहुत कम प्रकट तो पा रहा है। यहीं एक बात पर और ध्यान दीजिए। जैनेन्द्र से पहली मुलाकात में बात करते-करते प्रेमचन्द घर के लिए दवा लाना भूल गए। जब उन्हें याद दिलाई गई तो जैनेन्द्र ने लिखा है—

“प्रेमचन्द अप्रत्याशित भाव से उठ खड़े हुए। बोले, जरा दवा ले आऊँ, जैनेन्द्र। देखो, बातों में कुछ ख्याल ही नहीं रहा—

कह कर इतने जोर से कह-कहा लगा कर हँसे कि छत के कोनों में लगे मकड़ी के जाले हिल उठे। मैं तो भौचक्का रहा ही। मैंने इतनी खुली हँसी जीवन में शायद ही कभी सुनी थी।” यह हँसी..... यह हँसी क्या साधारण धरातल पर हँसी गई थी ? क्या उनका स्वभाव जो अब तक व्यक्त कर रहा था, यह उसी व्यक्ति की इतनी खुली हँसी थी इतनी ऊँची हँसी थी ? न वह हँसी बहुत ऊँचाई से हँसी गई थी, वह मुस्काहट-हँसी न थी और इतने हँसने का जब कोई प्रबल कारण न था, तो और भी सिद्ध होता है कि वह हँसी जहाँ से आयी थी, वह व्यक्ति प्रेमचन्द इस अभिव्यक्त प्रेमचन्द से नितान्त भिन्न है। ऐसी विशेषता से हमारा कथन पुष्ट होता है। वह व्यक्ति जो था, वह प्रकट न हो पा रहा था, उसे प्रेमचन्द ने अपने चेतन अभ्यास-प्राप्त स्वभाव से जकड़ कर बांध रखा था कि वह कहीं कोई ऐसी बात न कर बैठे, कि जिसमें स्पष्ट ह' पहाड़, जंगल, ऊँचाइयाँ, और गहराइयाँ आ जायं, कि वह सपाट और सम-तल न होकर ऊबड़-खाबड़ हो जाय। यह उद्योग स्वयं उनके व्यक्ति को महान प्रकट कर देता है। इसमें सन्देह नहीं कि स्वभाव को ऐसा बनाने का उद्योग जान-बूझ कर उन्हें अपने गृह की

परिस्थितियों के कारण करना पड़ा। पर इस व्यक्ति की कुछ ऐसी भाँकियाँ भी करनी हैं, जो उन्हें लेखक होने की ओर अग्रसर कर रही हैं।

उनकी तेरह साल की अवस्था रही होगी, हिन्दी जानते न थे। उर्दू के उपन्यास पढ़ने का उन्माद था। मौलाना शरर, पं० रतनाथ सरशार, भिरजा रुश्वा, मौलवी मुहम्मदअली के उपन्यासों की धूम थी, रेनाल्ड के उपन्यासों का भी उर्दू में अनुवाद हो रहा था। वे भी बहुत लोक-रुचि को पकड़ रहे थे, प्रेमचन्दजी को इनका चस्का पड़ गया। उस समय वे गोरखपुर में अपने पिता के पास थे। मिशन स्कूल की आठवीं कक्षा में पढ़ते थे। वहाँ उन्होंने बुद्धिलाल नामक बुकसेलर से दोस्ती कर ली। उसकी दुकान पर बैठ कर उपन्यास पढ़ते, उसके यहाँ से पुस्तकें बेच कर कमीशन में पुस्तकें घर ले जाते और पढ़ते। सैकड़ों उपन्यास पढ़ डाले, इनमें 'तिलस्मी होशरूवा' भी था। यह ग्रंथ किसी भी एनसाइक्लोपीडिया से कद में छोटा न बैठता, ये सब ग्रंथ पढ़ डाले।

इसी बीच में एक घटना हो गई। इनके मामूँ साहब की शादी न हुई थी, अतः वे एक चमारिन के चक्कर में आ गये। एक दिन लोगो ने सलाह कर इन्हें इतना पीटा कि बेदम हो गए। वहाँ से वे इनके यहाँ आ डटे, पर दमखम नहीं। उन लोगों पर डाका डालने का अभियोग चलाने का आयोजन करने लगे। यह घटना बालक प्रेमचन्द के लिए विलक्षण थी। उपन्यास पढ़ने वाले को तो उसमें न जाने क्या दीख गया। उनका मन मचल उठा। कलम उठा ली और इस घटना को एक नाटक का रूप दे डाला। मित्रों ने पढ़ा और हँसे, प्रशंसा की। यह पहली रचना थी। वह पुस्तक प्रेमचन्दजी ने मामूँ जी के कमरे में उनके

सिरहाने रख दी। फल यह हुआ कि वह पुस्तक और उनके मामूजी उसी दिन से उनके घर से गायब हो गए, पुस्तक का तो फिर कहीं पता न चला। प्रेमचन्दजी ने अन्त में यह टिप्पणी की है—“मालूम नहीं, मामू साहब ने उसे चिराग-अली के सुपुर्द कर दिया या अपने साथ स्वर्ग ले गये ?”

कई वर्ष बीत गये, इतने उपन्यास पढ़े थे कि दिल उसमें रँग गया था। सन् १९०१ आ पहुँचा और इन्होंने उर्दू में एक उपन्यास लिख डाला। इसका नाम “प्रेमा” था। इसके बाद कई उपन्यास लिखे। अभी कहानियाँ लिखना आरम्भ न हुआ था। सन् १९०७ आ गया यही वह वर्ष है, जिस वर्ष से इन्होंने कहानियाँ लिखना आरम्भ किया। रवीन्द्रनाथ की कहानियों की धूम थी। इन्होंने इन्हीं रवीन्द्र की कई कहानियाँ उर्दू में अंग्रेजी से अनुवाद करके छपवाईं। फिर अपनी मौलिक कहानियाँ भी लिखने लगे। १९०६ में पाँच मौलिक कहानियों का संग्रह ‘सोजेवतन’ प्रकाशित हुआ। इसमें अधिकारियों को “सिडीशन-विद्रोह” दिखाई पड़ा। देश-प्रेम की कोई बात कहना उस युग में सिडीशन से कम क्या हो सकता था! उनकी सारी प्रतियाँ जला दी गईं। प्रेमचन्द की नौकरी जाते जाते छूटी। प्रेमचन्दजी थे तो नाम के धनपतिराय पर कहानियों पर ‘नवाबराय’ का ही नाम डालते थे।

जब वे तबादला कराके बस्ती पहुँचे तो वहाँ हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक मन्नन द्विवेदी गजपुरी से आपकी भेंट हुई। गजपुरीजी डोमरियागंज में तहसीलदार थे।

जब वे बदल कर गोरखपुर पहुँचे तो वहाँ साहित्य के मर्मज्ञ, राष्ट्र के सच्चे सेवक और उद्योगी पुरुष महावीरप्रसादजी पोद्दार से आपका परिचय हुआ। इन्हीं की प्रेरणा से इन्होंने फिर उप-

न्यास लिखा, और वही उपन्यास “सेवासदन” कहलाया। गल्प तो हिन्दी में ये जब बस्ती में थे, तभी लिखने लगे थे। वे सरस्वती में प्रकाशित हो चुकी थीं। अब उपन्यास भी हिन्दी में लिखा, इस प्रकार हिन्दी में इनकी रचनाओं का धूम-धाम से स्वागत हुआ और वे उसके अपने बन गए। इनका सबसे पहला कहानी-संग्रह हिन्दी में १९१५ में प्रकाशित हुआ, इसकी भूमिका मन्नन द्विवेदी गजपुरी ने लिखी।

सरस्वती प्रेस खोल दिया गया था। हिन्दी के ऐसे प्रेसों की जो अवस्था होती है, वही इसकी थी। रुपयों के लिए भूखा रहता था। जाड़े के दिन आ गए थे। प्रेमचन्दजी को प्रेस की फिक्र थी—अपनी नहीं। जाड़े के कपड़े न थे, अपने हाथ में पैसे भी न थे क्या करें? शिवरानीदेवीजी ने कई बार आग्रह किया, कि गर्मसूट बनवा लो। पर कौन सुनता है? शिवरानीजी ने लिखा है—“मुझे उनके सूती पुराने कपड़े भड़े जँचे और गरम कपड़े बनवाने के लिए अनुरोध-पूर्वक दो बार चालीस-चालीस रुपये दिए, परन्तु उन्होंने दोनों बार के रुपये मजदूरों को दे दिए, घर पर जब मैंने पूछा कि कपड़े कहाँ हैं? तब आप हँस कर बोले, कैसे कपड़े? रुपए तो मैंने मजदूरों को दे दिए। शायद इन लोगों ने कपड़ा खरीद लिया होगा। इस पर मैं नाराज हो गई, तब वे अपने सहज स्वर में बोले, रानी जो दिन भर तुम्हारे प्रेस में मेहनत करे, वह भूखा मरे और मैं गर्म सूट पहनूँ, यह शोभा नहीं देता।

प्रेमचन्दजी एक बार दिल्ली गये हुए थे। हिन्दी-साहित्य-सभा, दिल्ली ने उन्हें मानपत्र देने का निश्चय किया। उसी रात को उन्हें लौट जाना था। सब तैयारियाँ करके सभा में सम्मिलित होने पहुँचे थे। मानपत्र दिया गया, पर वहाँ तो एक और

घटना घटित हो गई। एक पंजाबी उठे और कहने लगे, मेरी अरदास सुन ली जाय। मैं प्रेमचन्द को आज नहीं जाने दूँगा। आग्रह इतना किया कि प्रेमचन्द उस दिन नहीं जा सके। अपने अपनी बात बतलाई कि वह क्यों इतना आग्रह कर रहा है। बात यह थी कि कई वर्ष पहले वह कमाने के विचार से पूरव की ओर गया था, वहाँ वह कुछ कमा न सका। हाँ, गेवा सब बैठा। हताश था। घूमते घूमते स्टेशन पर पहुँचा। वहाँ ह्रीलर की दूकान पर एक उर्दू पत्र के पन्ने उलटने लगा। तो प्रेमचन्दजी की एक कहानी नज़र पड़ गई। रूपया देकर रिसाला खरीद लिया। वह कहानी पढ़ने लगा, कहानी थी “मन्त्र” कहानी क्या पढ़ी, मन्त्र ही पढ़ लिया। निराशा के बादल दूर हो गये। हताश हृदय में नई उमंग पैदा हुई। वह आगे बढ़ने का पक्का इरादा करके लौटा और उसी दिन से उन्नत होता गया। तरक्की पाता गया। वह तभी से उस ‘मन्त्र’ के लेखक की तलाश में रहा है। आज पकड़ पाया है, आज तो कैसे भी न जाने देगा, वही हुआ।

उस कहानी ने उस पंजाबी को डूबने से उबार लिया। न जाने ऐसे कितनों को संकट क्षणों पर विपन्न-मानस अवस्था में Psychological moments (मनोवैज्ञानिक क्षणों) पर उनकी कहानियाँ ने ऊपर उठाया है। उनके उपन्यासों ने जीवन का ढाँचा तैयार करने की प्रेरणा दी है।

न जाने कितने लेखक उनके ऋणी हैं, पं० पद्मसिंह शर्मा एक ऐसे सहृदय थे, जिन्होंने अपनी प्रेरणाओं से अनेकों को सजीव रखा। दूसरे प्रेमचन्द थे, जिन्होंने न जाने कितने मानी कलाकारों को वह बनने में सहायता पहुँचायी, जो वे आज हैं। प्रेमचन्द उन कलाकारों के अपने हो गये।

उनकी सादगी, उनकी सहानुभूति, उनकी घोर अहंशून्यता,

उनकी खुली ऊँची हँसी, उनका भोलापन—ऐसी सरल सात्विक रेखाओं से उनके व्यक्ति का चित्र बना है।

उन्होंने उपन्यास पढ़े; एक दो नहीं, बहुत से, दो सौ-ढाई सो पृष्ठ वाले नहीं हजारों पृष्ठ वाले, आरम्भ में जो उपन्यास पढ़े, वे निलम्भ और प्रेम-व्यभिचार सम्बन्धी, सामंत और पूँजी के अमुजीवियों से सम्बन्ध रखनेवाले थे। तेरह वर्ष की अवस्था में ही उन्होंने उर्दू के रत्ननाथ दर के बड़े बड़े उपन्यास पढ़ डाले, रैनाल्ड के उपन्यासों से हरमों के गुप्त प्रणयों का भौंका। देवकी-नन्दन स्वप्ना की चन्द्रकान्ता और उसकी संतति भी पढ़ी। बकिम के उपन्यासों का अनुवाद भी पढ़ डाला। इनको पढ़ते गये और सोचते गये कि वे प्रकाशित होते-होते समय के पीछे की चीजें होती जाती हैं, तब उन्हें रवीन्द्र हाथ पड़े। तबज्योत्सना उसमें दीखी। उनकी कहानियों का उर्दू अनुवाद कर डाला और यहाँ से अपनी निजी रचनाओं की सृष्टि आरम्भ की। उर्दू के उपन्यासकारों ने उन्हें कथा-साहित्य का चस्का लगाया। रवीन्द्र ने उन्हें नवोन्मेष से परिपूर्ण किया, इनमें से अभी उन्हें अपनी कुंजी नहीं मिली थी।

१९०० के लगभग से प्रेमचन्द ने उपन्यास लिखना आरम्भ किया था। उस समय से आगे होने वाले ऐतिहासिक घटनाओं ने उनके जीवन को अछूत नहीं छोड़ा। कलाकार में अपनी कला तो मुक्त-धारा की भाँति बहती है, पर उस धारा के लिए जिस भूमि की आवश्यकता होती है, वह परिस्थितियों से बनती है और काल अपनी समस्याओं से उस भूमि का रंग-रूप निश्चय करता है। किसी भी प्रकार का कलाकार क्यों न हो, कलाकार न होकर ग्रन्थकार ही हो, यदि वह साहित्य की सृष्टि कर रहा है, विज्ञान का आवेगविवेक अध्ययन नहीं कर रहा, तो परिस्थिति और काल से अछूता नहीं रह सकता। परिस्थिति काल से भिन्न

बात नहीं। काल का एक क्षण के लिए काम में लाकर कुछ स्थिर सा किया हुआ Static (स्थिति) रूप परिस्थिति कहलाता है। चलता हुआ परिस्थितियों को अपने में लपेटे एक विशद, भूत, वर्तमान और भावी का सुसंगठित चक्र काल कहलाता है, तो इनसे लेखक-कवि अछूता नहीं रह सकता। जैसे-जैसे काल चलता है, लेखक भी चलता है और उसमें पारम्परिक आदान-प्रदान रहता है। काल की यन्त्र, परिस्थितियों का मसाला लेखक में विविध रूप धारण कर प्रतिफलित होता है। प्रेमचन्द के परिचय की इस झलक को पाकर उनकी महानता की अगिबणी भूमि परिस्थिति और काल का भी कुछ ज्ञान पाना होगा।

एक बात—यों तो हमें दार्शनिक होकर वेदान्त के फल तोड़ कर खाने नहीं। फिर यह कहने की आवश्यकता क्या कि यह सब पसारा एक 'अहं' का है—'एकमेव द्वितीयो नास्ति'। हम क्यों इसकी शरण जायँ—यानी देश, काल, परिस्थितियों को कुछ भी महत्त्व न देकर, सबको उस 'अहं' ब्रह्म का ही स्वरूप समझें, जिस भाँति परिस्थिति काल का ही अङ्ग है। काल भी एक महाकाल की कलामात्र है, ब्रह्म का एक विकलन है। हमें तो निश्चय यही कहना है कि यह जो परिस्थिति है, काल का ही एक रूप है—पर हमें तो वह उससे अलग और उसकी सहायक लगती है। गुठली और छिलके के उत्पादन का एक क्रम है, पर वे अलग-अलग है—वैसे न हों, हमारे लिए तो हैं हीं। उसी प्रकार साहित्य-धारा की भूमिका का कुछ अन्वेषण किया जाय तो अवाञ्छनीय नहीं कहा जा सकता। यही भूमि तो प्रेमचन्द का क्रोड़ है, क्रोड़ में खेला हुआ बालक मनुष्य होकर क्रोड़ में समा नहीं सकता पर क्रोड़ से सर्वथा विच्छिन्न भी कहा जा सकता है क्या ?

प्रेमचन्द-काल का विवेचन

प्रेमचन्द का साहित्य-सेवा काल १९०१ में १९३६ तक है। यह वर्ष भारत में नवयुग का सूत्रधार है। अंग्रेजी राज्य के जम जाने से जो प्रभाव भारत पर पड़ा, वह इसी काल में फलान्वित हुआ, राजनैतिक और सामाजिक जागरण के जो बीज पहले बोये जा चुके थे, वे पल्लवित हुए। सन् १९०० में साहित्य का नवयुग 'सरस्वती' के प्रकाशन से आरम्भ हुआ, सन् १९०१ में महारानी विक्टोरिया की मृत्यु हुई और मप्तम एडवर्ड गद्दी पर बैठे। सन् १९०१ ही वह भाग्यशाली वर्ष है, जिसमें राष्ट्रीय महा-सभा में महात्मा गाँधी सब से पहले अफ्रीका के प्रश्न को लेकर बोले, ये तीन बड़ी घटनायें इसी सन् में हुई,—विक्टोरिया की मृत्यु, गाँधीजी का कांग्रेस में बोलना, और सरस्वती का प्रकाशन इसी वर्ष में प्रेमचन्द ने अपनी पहली रचनायें लिखीं—हाँ, ये पहली रचनायें उर्दू में थीं।

इस प्रेमचन्द-काल में भारत में जो घटनायें घटीं, उनका भी बहुत संचिप्त व्यौरा यहाँ दिया जाता है।

कांग्रेस शक्तिशाली होने लगी थी, उसने लोक-संस्था का रूप धारण कर लिया, यद्यपि वह अभी पूर्णतः बूर्जुआ मध्यवर्ग के हाथ में थी, वह शासन में भारतीय भाग मात्र चाहती थी, उस समय लार्ड कर्जन के कुछ कारनामों से भारत के उग्र राष्ट्रीय उत्साह को एक प्रबल झोंका लग गया, इसमें सब से प्रमुख था, बंग-भंग। बंग-भंग से बंगालियों में उत्कट उत्तेजना फैल गई, कांग्रेस ने उसे भारतीय प्रश्न बना लिया, सारा भारत गरम हो

उठा, उग्रता आने लगी, जिस विच्छेद को प्रान्त में रोका गया, वही विच्छेद जड़ बन कर मिन्टो माल सुधारों के रूप में आया, बंगाल की आग को तो १९११ की शाही घोषणा से विन्यस्त कर दिया गया, पर अब सारा भारत ही हिन्दू-मुसलमानों के क्षेत्र में विभाजित कर देने की नींव डाली गई। वह इतनी बीज रूप में थी कि यद्यपि काँग्रेस ने तभी अपनी तत्परता दिखाई, उसका विरोध किया, संयुक्त मांग मुस्लिम-लीग से मिल कर तैयार की, पर बीज बपन हो ही गया।

१९१२ में लार्ड हार्डिज पर बम फेंका गया, इस कांड से सारा भारत सन्न हो गया, भारत की राष्ट्रीय चेतना को अफ्रीका के भारतीय आन्दोलन से और अधिक प्रोत्साहन मिला। १९१३ में करांची काँग्रेस ने महात्मा गांधी को अफ्रीका की सफलता के लिए धन्यवाद दिया, कनाडा में प्रिवी कौंसिल ने एक आदेश दिया जिससे भारतीयों को वहाँ जाने आने में रुकावट हो गई, इससे पंजाब में असंतोष हुआ। बाबा गुरुदत्तसिंह इसका सक्रिय विरोध करने ६०० सिक्खों को लेकर “कोमोगाटमारू” जहाज पर चढ़ कर सीधे कनाडा पहुँचे, वहाँ पर उन्हें उतरने नहीं दिया गया। भारत लौटने पर उन पर कठिन वन्दिशें लगा दी गई। चम्पारन के जिले में नील की खेती के रूप में योरोपीय मनुष्य किसानों पर अत्याचार करने लगे थे, इससे किसानों में घोर असन्तोष था। महात्मा गाँधी भारत में ही थे। किसानों की दुर-वस्था को संभालने को उन्होंने बोड़ा उठाया। मत्स्याग्रह की शक्ति की जाँच उन्होंने चम्पारन, कैरा और तोरमर के किसानों के दुख मोचन के उद्योग में की, इन प्रयत्नों से किसानों में जागृति फैली, उन्हें शिक्षाएँ दी गई।

ता० ११-११-१९१८ को युद्ध समाप्ति पर शान्ति-दिवस

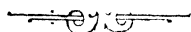
मनाया गया। कांग्रेस ने इस बात पर ध्यान आकर्षित कराया कि ब्रिटेन ने जिस 'आत्म-निर्णय' (self-determination) के अधिकार के लिए युद्ध किया वह अधिकार भारत को मिल जाना चाहिए। भारतीय सेनाओं ने युद्ध में बहुत ही महत्वपूर्ण भाग लिया था, उसकी प्रशंसा सभी ने की थी। भारत समझता था कि इन सेवाओं का मधुर फल हमें अवश्य मिलेगा। किन्तु 'रोल्लेटबिल' को १९१६ में कानून बनाने का उद्योग किया जाने लगा। महात्मा गान्धी ने घोषणा की कि यदि ऐसा किया गया तो मैं सत्याग्रह आरम्भ कर दूंगा। उन्हें सत्याग्रह छेड़ना ही पड़ा सारा देश पीड़ा से व्याकुल हो उठा था। स्थान-स्थान पर महती सभाये हुई, अनेकों स्थानों पर गोलियाँ चलीं। सबसे भीषण हत्याकाण्ड 'जलयान वाले' बाग में डायरों के द्वारा सम्पन्न हुआ। इसी समय पंजाब सैनिक-नियंत्रण में दे दिया गया। मार्शल-लाॅ जारी कर दिया गया। भारतभूमि में निरपराध भारतीयों को ऐसा अपमान असह्य हुआ। सर शंकरन नायर ने भारत सरकार से इस्तीफा दे दिया। उधर युद्ध के उपरान्त तुर्की के साथ भी ब्रिटेन न्याय नहीं कर सका, मुसलमानों में खिलाफत का अन्दोलन उठा। कांग्रेस ने उन्हें भी अपने साथ ले लिया। १९२० में कांग्रेस ने असहयोग के द्वारा सरकार से युद्ध ठान दिया। १९२० नवम्बर में प्रिंस-आफ-वेल्स के आने के समय उनका प्रबल बायकाट हुआ। इसी काल में कांग्रेस बालंटियरों का भी संगठन किया गया।

कांग्रेस के प्रस्तावों का प्रभाव यह हुआ कि मार्ले-मिन्टो रिफार्मों की चर्चा होने लगी, उसके फलस्वरूप १९०७ में इंडिया-कौंसिल में दो भारतीय लिये जाने लगे। १९०६-१० से गवर्नर जनरल, गवर्नर-मद्रास, गवर्नर-बम्बई, तथा गवर्नर बंगाल की कार्यकारिणी में एक एक भारतीय नियुक्त होने लगा, किन्तु जहाँ

चुनाव हुए, वहाँ साम्प्रदायिक क्षेत्र बनाकर हिन्दू-मुसलमानों के अलग अलग चुनाव हाने लगे। इसके विरोध में १९०६ में कांग्रेस ने कई प्रस्ताव पास किए। इस प्रकार साम्प्रदायिक वर्गीकरण को राजनैतिक दृष्टि से उसने अन्यायी, घातक और अपमानजनक बताया। साम्प्रदायिक चुनाव का सिद्धान्त जिला और नगर बोर्डों के साथ भी काम में लाया गया। इसका भी विरोध किया गया। इसके लिए कांग्रेस ने मुस्लिमलीग से मिलकर संयुक्त-भारत की मांग पेश की। “स्वशासन” का निश्चय कांग्रेस ने स्वीकार किया। उधर श्रीमती वेसेन्ट ने राजनीति में प्रभुत्व पा लिया। उन्होंने होमरूल की पुकार मचाई। उनका आन्दोलन केवल कानूनी न था। उनके साथ होमरूल के लिए हिन्दू-मुसलमानों ने कन्धे से कन्धा भिड़ा कर निष्क्रिय प्रतिरोध किया। उधर योरूप में महायुद्ध आरम्भ होगया था।

१९२२ में टैक्स न देने का आन्दोलन छिड़ा। इन सब का सामना सरकार ने भी कठोरता और दुर्नीति से किया। १९२७ में हिन्दू-मुसलमानों में दंगे होने लगे। एकता की गम्भीर दीवार ढह गई। इस तीव्र आन्दोलन को शान्त करने के लिए पार्लियामेंट ने साइमन कमीशन भेजा, इसमें सब अंगरेज थे। असन्तोष में एक आहुति और पड़ गई। १९३० में नमक-कानून तोड़ने का आन्दोलन महात्मा गांधी के नेतृत्व में आरम्भ हुआ। इंग्लैंड में उधर राउण्ड-टेबिल-कांफ्रेंस संगठित की गई। व्यापारिक वायकाट, मद्य पर पिकेटिंग भी साथ-साथ चला। हिंसात्मक कार्य भी गुप्त रूपेण होते रहे। कई राजनैतिक डकैतियाँ हुईं। पेशावर और शोलापुर में विद्रोह मच गया। सीमाप्रांत में “रेड-शाट” आन्दोलन जोर पकड़ गया। गाँधीजी पकड़ लिए गए। कानपुर और करांची में भीषण साम्प्रदायिक दंगे हो पड़े। उधर राउण्ड-टेबिल-कांफ्रेंस का काम कांग्रेस के भाग न लेने के कारण

पड़ा हुआ था। आखिर इरविन-गांधी समझौता हुआ। गांधीजी इंग्लैंड गए। भारत में लौट आने पर स्थिति और बिगड़ी हुई दिखाई पड़ी। लार्ड विटिंगटन का कठोर शासन था। अछूतों को नये भारत-कानून में हिन्दुओं से अलग कर देने का निश्चय हुआ। इस पर महात्मा गांधी ने आजन्म अनशन-व्रत किया। पूना-पैक्ट हुआ और महात्माजी ने अपना व्रत तोड़ दिया। १९३५ तक भारतीय शासन विधान तैयार हुआ। इसमें प्रांतीय स्वराज्य की आयोजना थी। भारत इस विधान से असंतुष्ट था, फिर भी कांग्रेस ने चुनाव में भाग लिया। पाँच प्रान्तों में उसका बहुमत हुआ। मंत्रि-मण्डल बनाने के लिए कांग्रेस को कहा गया, उसने इस शर्त पर स्वीकार किया कि गवर्नर कांग्रेस मंत्रि-मण्डलों के कानून के अन्दर किए गए किसी काम में अड़चन न डालेंगे। १९३६ में मन्त्रि-मण्डलों के बनते-बनते प्रेमचन्दजी की मृत्यु होगई।



७—कहानी में तीव्रता हो, ताजगी हो, कुछ भी ऐसा न हो, जो अनावश्यक कहा जा सके।

८—कहानी की भाषा बहुत ही सरस और सुबोध होनी चाहिए।

९—घटनाएँ, पात्रों की मनोगति से स्वयं उद्भूत हों, वे प्रधानता न ग्रहण कर लें।

प्रेमचन्दजी के विविध समय के इन एकत्रित मतों में समय के अनुसार परिवर्तन दीखता है, जिसने घटना को कहानी की इकाई माना, आगे चल कर वही अनुभूति को प्रधान बतलाने लगा। पहले आदर्श और उपयोगिता को जो प्रधान समझ रहा था, बाद में बह् मनोरंजन और मानसतृप्ति को प्रधानता देने लगा, नीति के स्थान पर सौन्दर्य-प्रेम हुआ और आदर्श ने आदर्श न रह कर “आदर्शोन्मुख यथार्थ” में परिणति पाई। इस भाव विकास के अनुसार ही प्रेमचन्द की विविध प्रकार की कहानियाँ मिलती हैं।



प्रेमचन्द—कहानियों का विविध वर्गीकरण

प्रेमचन्द की कहानी की परिभाषा हमने जान ली। अब हमें उचित है कि हम उनकी कहानियों में मिलने वाली सामग्री के मूल्य को आँकें। हम यह देखें कि प्रेमचन्द ने अपने कहानी के क्षेत्र में क्या-क्या प्रस्तुत किया है? इसके लिए हमें पहले विविध दृष्टियों से उसी कहानियों का वर्गीकरण करना पड़ेगा। यों वर्गीकरण एक शुष्क व्यापार प्रतीत होता है, पर समस्त सामग्री की यथार्थ समीक्षा बिना वर्गीकरण के नहीं हो सकती। कहानीकार में जो है उसे जानने का वर्गीकरण एक सुगम उपाय है, यद्यपि वर्गीकरण करने का कार्य बड़ा जटिल और परिश्रम साध्य है। प्रेमचन्द की कहानियों का वर्गीकरण तो और भी कठिन कार्य है। शरतचन्द्र की भाँति उनकी विषय-वस्तु या शैली में एकरसता अथवा एकान्विति नहीं मिलती। बौद्धिक का अथाह सागर यहाँ लहरें मार रहा है। इसलिए किसी सीधी परिभाषा के आधार पर प्रेमचन्द की कहानियों का न तो वर्गीकरण हो सकता है, न व्याख्या हो। तो, यहाँ हम विविध दृष्टियों से प्रेमचन्दजी की कहानियों का वर्गीकरण करने का उद्योग करेंगे।

मनुष्य समाज के दो वर्ग हैं। एक स्त्री, दूसरा पुरुष। कथा साहित्य में प्रेमचन्द से पहले तो यह अनिवार्य ही समझा जाता था कि दोनों का समावेश हो, और सारी कथा प्रेम कहानी हो, प्रेमचन्द के समय में भी और आज भी इसकी प्रधानता नष्ट नहीं हो पायी, किन्तु प्रेमचन्दजी ने इसे कोई नियम नहीं माना। हम उनकी कहानियों का पहला वर्ग हम इस आधार पर बनायेंगे कि किन कहानियों में स्त्री को किंचित भी स्थान नहीं दिया गया।

प्रेमचन्द—कहानी की परिभाषा का विकास

प्रेमचन्दजी ने कहानी और उपन्यासमात्र ही नहीं लिखे, ये दोनों तो निःसन्देह उनकी महान कला के दो उपकूल हैं। ये उनकी निजी अभिव्यक्ति के माध्यम हैं, पर उसी अभिव्यक्ति के जो जीवन की अभिव्यक्ति कहलाती है, कुछ शास्त्रीय अभिव्यक्ति भी होती है। भीतर बैठा हुआ आलोचक अविराम यह देखता है कि यह जो मेरा सम्बद्ध कलाकार है, यह क्या लिख रहा है और क्या समझ रहा है ? कलाकार कभी यह सोचता नहीं, वह अपने सृजन में—अपने सौंदर्य लोक में ऐसा मग्न रहता है कि वह अपने को क्या जाने—यानी ऐसा वेसुध और वेबस होता है। पर उसे आलोचक के सामने आना पड़ता है और कुछ अपने किण्वधरे को देख कर अपने उद्योग, अपनी सृष्टि का कुछ अर्थ बतलाने की चेष्टा करनी पड़ती है। ईश्वर से मानों पूछा जाता है कि ये फूल तूने क्यों बनाये, और उनके विविध उपयोगों के रहस्य में उसे अपना वह मन्तव्य दृढ़ कर बतलाना पड़ता है कि क्यों ? सृष्टि में भूला हुआ मनुष्य ठीक ठीक अपना अन्तरोद्देश्य नहीं प्रकट कर सकता है, वह जो कहता है, उसकी वस्तुयें उससे भिन्न हो सकती हैं। तो प्रेमचन्द में भी उस आलोचक को जगना पड़ा है, और कभी तो किसी साहित्य-समाज के सभापति पद से व्याख्यान द्वारा, कभी किसी कहानी अथवा उपन्यास की भूमिका में उन्हें बाहर के विद्वानों की जाँच-पड़ताल के साथ अपना मन भी टटोलना पड़ा है। उसमें उन्होंने साहित्य क्या, उपन्यास क्या, इन शब्दों का उत्तर दिया है। सृष्टि से पूर्व सृष्टिकर्ता के विचारों को देखे, उनसे सृष्टि, कला और कहानी की परिभाषा निश्चित कर,

यह आवश्यक है। प्रेमचन्द साहित्य, कहानी और उपन्यास को क्या समझते थे, उससे अवगत होने के लिए उनके लेखों से उपयोगी उद्धरण यहां देने होंगे।

वे कहते हैं:—

“साहित्य उसी रचना को कहेंगे, जिसमें कोई सचाई प्रकट होगई हो। जिसकी भाषा प्रौढ़, परिमार्जित और सुन्दर हो, और जिस में दिल, दिमाग पर असर डालने का गुण हो। किसी भी रचना में तीन बातें ही होती हैं। १—वस्तु अथवा तत्व, २—वह सार जिस माध्यम द्वारा प्रकट किया गया हो, ३—उस अभिव्यक्ति का प्रभाव अथवा वह सृष्टि अपनी सार्थकता सिद्ध करे।” प्रेमचन्द ने उपर्युक्त परिभाषा में सार को सचाई, माध्यम भाषा को प्रौढ़, परिमार्जित और सुन्दर, अभिव्यक्ति के प्रभाव को दिल और दिमाग पर असर डालने वाला बतलाया है। मूल वस्तु सचाई कहाँ से आवे, वे कहते हैं—

“साहित्य में यह गुण पूर्णरूप में उसी अवस्था में उत्पन्न होता है, जब उसमें जीवन की सचाइयाँ व्यक्त की गई हों” इसलिए उन्होंने मैथ्यू आर्नल्ड की उस परिभाषा को जो उसने कविता के सम्बन्ध में की थी, साहित्य के लिये भी स्वीकार कर लिया है। और लिखा है—

“मेरे विचार से उसकी, साहित्य की, सर्वोत्तम परिभाषा जीवन की आलोचना है। चाहे निबन्ध के रूप में हो, चाहे कहानियों के, या काव्य के, उसे हमारे जीवन की आलोचना और व्याख्या करनी चाहिए। यहाँ एक बात ध्यान देने का है कि प्रेमचन्द को केवल आलोचना शब्द से सन्तोष नहीं हो सका। उन्होंने व्याख्या की भी अपेक्षा समझी है—जो जीवन की आलोचना करे और व्याख्या भी, वही साहित्य है। उसका रूप

कुछ भी हो। इस परिभाषा से ही जाना जा सकता है कि प्रेमचन्दजी साहित्य को केवल मनोरञ्जन की वस्तु नहीं समझते। वे तो यहाँ तक कहते हैं कि:—

‘नीति-शास्त्र और साहित्य-शास्त्र का लक्ष्य एक ही है, केवल उपदेश की विधि में अन्तर है।’

“जिस साहित्य से हमारी सुरुचि न जागे, अध्यात्मिक और मानसिक तृप्ति न मिले, हम में शक्ति और गति न पैदा हो, हमारा सौन्दर्य प्रेम न जाग्रत हो, जो हम में सच्चा संकल्प और कठिनाइयों पर विजय पाने की सच्ची दृढ़ता न उत्पन्न करे, वह साहित्य कहाने का अधिकारी नहीं।”

साहित्यकार ने समाज की लगाम अपने हाथ में ले रखी है और उसने मनुष्य की आध्यात्मिक और नैतिक सभ्यता का आधार धर्म के स्थान पर “सौन्दर्य-प्रेम” बना दिया है। सौन्दर्य-प्रेम रूपाशक्ति नहीं, सौन्दर्य-प्रेम कुछ प्रकृति के मनोरम स्थलों को एकटक देखना नहीं...विस्तृति में जो सौन्दर्य है, निष्कपट, पावन और मुक्त हृदय जिसमें उत्कर्ष और आनन्द का अनुभव करता है...वही सौन्दर्य है। सत्य और शिव के साथ सम्बद्ध, पर इनसे आगे प्रतिफलित होने वाला जो सुन्दर है, उसी की शक्ति और गुणशीलता प्रेमचन्द की दृष्टि में सौन्दर्य है...वे उसके लिए सामञ्जस्य को आवश्यक समझते हैं। साहित्य कलाकार के आध्यात्मिक सामञ्जस्य का व्यक्तरूप है, और सामञ्जस्य सौन्दर्य की सृष्टि करता है। जहाँ यह सौन्दर्य है, वहाँ असुन्दर, अभद्र और अमानवीय कुछ हो ही नहीं सकता। उसके प्रति स्वाभाविक प्रेम मानव में जाग्रत कर साहित्यकार मनुष्य की आध्यात्मिक और नैतिक सभ्यता का निर्माण करता है अथवा संस्कार करता है। इस निर्माण में, इस सृष्टि में उसे

कुछ औचित्य का ध्यान रखना होगा। उसे अपनी सौन्दर्य सृष्टि में विस्तृत लानी होगी। उसे रंगे ओठों, कपोलों, भौंहों, चांद से मुख, स्वर्णलता सी देह, हंसगति, केसरी कटि—नफासत, नजाकत और मुकुमारता में ही सौन्दर्य न देखना होगा। उसे अपनी दृष्टि व्यापक करके अभीरी सौन्दर्य को छोड़ कर गरीबों के पास भी आना होगा। ऊपर न देख भीतर भी देखना होगा, विभूति पर आखे न लगा, भभूत भो आँखों पर लगानी होगी—उसे सारी सृष्टि को अपनी परिधि में लेना होगा।

फिर इसमें कोई मन्देह नहीं रह जाता कि प्रेमचन्द साहित्य और कला में उपयोगितावाद के मानने वाले हैं। वे उसे स्वीकार करते हुए कोई संकोच अनुभव नहीं करते।

मुझे यह कहने में हिचक नहीं कि मैं और चीजों की तरह कला को भी उपयोगिता की तुला पर तौलता हूँ।

वे आगे स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं—

“निस्सन्देह कला का उद्देश्य सौन्दर्य वृत्ति की पुष्टि करना है और वह हमारे आध्यात्मिक आनन्द की कुञ्जी है, पर ऐसा कोई रुचिगत मानसिक तथा आध्यात्मिक आनन्द नहीं जो अपनी उपयोगिता का पहलू न रखता हो।”

प्रेमचन्द की यही सृष्टि साहित्य की परिभाषा है। कहानी साहित्य का हो एक अङ्ग है, उसमें साहित्य में अपेक्षित सभी बातें होनी चाहिए.....पर उसमें कुछ अपनी विशेषतायें भी होती हैं।

ऊपर साहित्य के विवेचन में यह बात आ गई है कि निबन्ध, कहानी, काव्य ये उसके विविध रूप मात्र हैं। इसे यों भी कह सकते हैं कि साहित्य की अभिव्यक्ति की विविधि शैलियाँ हैं। कहानी भी साहित्यिक अभिव्यक्ति की एक शैली है। साहित्य की वस्तु तथा साहित्य की आत्मा मूर्त और सजीव सृष्टि से

सुगठित तथा सुसम्बद्ध व्यापारों को लेकर जब अपना सहारा बना लेती है, जब कथा का चोगा पहन लेती है, तो कहानी हो जाती है। काव्य में जो वस्तु, यति, गति, छन्द, वृत्त और अलंकार उपादानों के कलेवर से प्रकट होती है, निबन्ध में जो सहज भाषा प्रणाली में गुम्फित युक्ति, तर्क, व्याख्या या उदाहरण का रूप ग्रहण कर प्रकट होती हैं, वह कहानी में कथा के द्वारा अभिव्यक्त होती है। काव्य में वस्तु मंदिर—उफान भरे रागात्मक वृत्तियों को संजोती हुई एक संगीतात्मकता के साथ अन्तर में उतर जाती है। उसकी स्मृति नहीं, एक कैफियत, उसका अर्थ नहीं एक मुद्रा, उसका ज्ञात नहीं, एक मुग्धता रह जाती है। निबन्ध-शैली में वह वस्तु पहले ज्ञान को जागृत करती है, मन के विविध तत्वों—बुद्धि, विवेक, स्मृति, चेतना में क्रम, तर्क, विश्लेषण आदि से ग्रहीत होती है, मन में पैठती जाती है। कहानी में वह सम्पूर्णता प्राप्त करती है—सजग, सजीव, सजातीय, साकार या मूर्त सृष्टि रचती हुई हमारे चारों ओर वह ऐसा व्यूह रच देती है कि हम राग और ज्ञान, हृदय और मस्तिष्क शरीर और आत्मा का सम्पूर्णतः अनुभव अथवा परिचय प्राप्त करते हैं। कहानी में विस्मृति के साथ स्मृति और कैफियत, अर्थ के साथ मुद्रा और भाव, ज्ञान के साथ मुग्धता और विभोरता सभी होते हैं। जिसके लिए काव्य है, जिसके लिए निबन्ध है, वह स्वयं कहानी के आँगन में हमें उपस्थित मिलता है। काव्य में मानव का राग निबन्ध में उसकी प्रतिभा, पर कहानी में इन सब से संयुक्त मानव और मनुष्य हमें मिलता है।

कहानी का यह परिचय बहुत व्यापक है। इसमें प्रबन्धता लिए, काव्य, नाटक, उपन्यास, कथा, गल्प या आख्यायिका सभी सम्मिलित हैं। कथा साहित्य मात्र इस परिचय का विषय रहा। किन्तु कहानी का आज विशेष अर्थ हो गया है। कहानी

न प्रबन्ध काव्य है, न नाटक और न उपन्यास, और अधिक वैज्ञानिक हुआ जाय तो कहानी गल्प तथा आख्यायिका से भी भिन्न है। कहानी और उपन्यास का अन्तर बतलाने हुए प्रेमचन्दजी ने लिखा है—

“उपन्यास घटनाओं, पात्रों और चरित्रों का समूह है। आख्यायिका एक घटना है। अन्य बातें सब उसी घटना के अन्तर्गत होती हैं। इस विचार से उसकी तुलना ड्रामा से की जा सकती है। उपन्यास में आप चाहे जितने स्थान लायें, चाहे जितने दृश्य दिखायें, चाहे जितने चरित्र खींचें, पर यह कोई आवश्यक बात नहीं कि वे सब घटनायें और चरित्र एक ही केन्द्र पर आकर मिल जायें। उनमें कितने चरित्र तो केवल मनोभाव दिखाने के लिए ही रहते हैं पर आख्यायिका में इस बाहुल्य की गुञ्जायश नहीं। बल्कि कई सुविज्ञ जनों की सम्मति तो यह है कि उसमें केवल एक ही घटना या चरित्र का उल्लेख होना चाहिए। उपन्यास में आपकी कलम में जितनी शक्ति हो, उतना जोर दिखाइये, राजनीति पर तर्क कीजिए। किसी महफिल के वर्णन में १०, २० पृष्ठ लिख डालिए, भाषा सुरस होनी चाहिए—ये कोई दूषण नहीं। आख्यायिका में आप महफिल के सामने से चले जायेंगे और बहुत उत्सुक होने पर भी आप उसकी ओर निगाह नहीं उठा सकेंगे। वहाँ तो एक शब्द, एक वाक्य भी ऐसा न होना चाहिए जो गल्प के उद्देश्य को स्पष्ट न करता हो। इसके सिवाय कहानी की भाषा बहुत ही सरल और सुबोध होनी चाहिए।”

वे अन्यत्र कहानी के सम्बन्ध में लिखते हैं—

“हम कहानी ऐसी चाहते हैं कि वह थोड़े से थोड़े शब्दों में कही जा सके। उसमें एक वाक्य, एक शब्द भी अनावश्यक न

आने पाये, उसका पहला ही वाक्य मन को आकर्षित करते और अन्त तक उसको मुग्ध किए रहे और उसमें कुछ चटपटापन हो—कुछ ताजगी हो, कुछ विकास हो, उसके साथ ही कुछ तत्व भी हो: तत्वहीन कहानी से चाहे मनोरञ्जन भले ही हो जाय, मानसिक तृप्ति नहीं होती। यह सच है कि हम कहानियों में उपदेश नहीं चाहते। लेकिन विचारों को उत्तेजित करने के लिए मन के सुन्दर भावों को जागृत करने के लिए कुछ न कुछ अवश्य चाहते हैं। वही कहानी सफल होती है, जिसमें इन दोनों में से मनोरञ्जन और मानसिक तृप्ति में से एक अवश्य उपलब्ध हो।” आगे कहते हैं “सबसे उत्तम कहानी वह होती है, जिसका आधार किसी मनोवैज्ञानिक सत्य पर हो।”

“उपन्यासों की भाँति कहानियाँ भी कुछ घटना-प्रधान होती हैं, कुछ चरित्र-प्रधान। चरित्र प्रधान कहानी का पद ऊँचा समझा जाता है, कहानी में बहुत विस्तृत विश्लेषण की गुंजायश नहीं होती। यहाँ हमारा उद्देश्य सम्पूर्ण मनुष्यों को चित्रित करना नहीं, बल्कि उनके चरित्र का एक अंग दिखाना है। यह परम आवश्यक है कि हमारी कहानी से जो परिणाम या तत्त्व निकलें, वह सर्वमान्य हो, और उसमें कुछ बारीकी हो..... जब हमारे चरित्र इतने सजीव और आकर्षक होते हैं कि पाठक उनको अपने स्थान पर समझ लेता है तभी उस कहानी में आनन्द प्राप्त होता है, अगर लेखक ने अपने पात्रों के प्रति पाठक में यह महानुभूति नहीं उत्पन्न कर दी तो वह अपने उद्देश्य में असफल है।”

कहानी में घटनामात्र ही आवश्यक बताई गई है। किन्तु कहानी-कला विकास की ओर बढ़ती जा रही है। स्थूल घटना से यह आगे सूक्ष्मता की ओर बढ़ती है, “कहानी”, प्रेमचन्द कहते हैं—“जीवन के बहुत निकट आ गई है, उसकी जमीन अब उतनी

लम्बी चौड़ी नहीं है, उसमें कई रसों, कई चरित्रों और कई घटनाओं के लिए स्थान नहीं रहा, अब वह केवल एक प्रसंग का, आत्मा की एक झलक का सजीव हृदय-स्पर्शी चित्रण है। इस एक-तथ्यता ने उसमें प्रभाव, आकस्मिकता, और तीव्रता भर दी है, अब उसमें व्याख्या का अंश कम, समवेदना का अधिक रहता है..... अब हम कहानी का मूल्य उसके घटना, विन्यास से नहीं लगाते, हम चाहते हैं कि पात्रों की मनोवृत्ति स्वयं घटनाओं की सृष्टि करे, घटनाओं का स्वतन्त्र कोई महत्त्व ही नहीं रहा। खुलासा यह कि कहानी का आधार अब घटना नहीं अनुभूति है..... उसका उद्देश्य स्थूल सौन्दर्य नहीं है वह तो कोई ऐसी प्रेरणा चाहती है कि उसमें सौन्दर्य की झलक हो और जिसके दुबारा वह पाठक की सुन्दर भावनाओं को स्पर्श कर सके।”

अब हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि—

१—कहानी में एक सत्यता होती है, एक घटना, आत्मा की एक झलक, एक मनोवैज्ञानिक सत्य का प्रदर्शन, जो भी हो वह एक हो विविध न हो।

२—घटना का स्थान अनुभूति ले सकती है, अनुभूति वाली कहानियाँ ऊँचे दर्जे की होती हैं।

३—कहानी का आधार मनोवैज्ञानिक होता है।

४—वह मनोरंजन करती है, पर उसमें मानसिक तृप्ति के लिए भावों को जागृत करने के लिए भी कुछ होता है।

५—कहानी घटना प्रधान हो सकती है, और चरित्र-प्रधान भी। पिछले प्रकार की कहानियाँ उच्च कोटि की समझी जाती हैं।

६—यह आवश्यक है कि कहानी जो परिणाम या तत्त्व निकाले, वह सर्वमान्य हो और उसमें कुछ वारीकी हो।

(१) नमक का दारोगा, (२) उपदेश, (३) परीक्षा, (४) अधिकार चिन्ता, (५) राज्यभक्त, (६) पछतावा, (७) बौडम, (८) दुस्साहस, (९) पूर्व संस्कार, (१०) स्वत्व रक्षा, (११) पशु से मनुष्य, (१२) आत्माराम, (१३) पं० मोटोराम शास्त्री की कुछ कहानियाँ, (१४) कफन, (१५) मनुष्य का परम धर्म, (१६) गुरु-मन्त्र (१७) विचित्र होली, (१८) सत्याग्रह, (१९) मुफ्त का यश, (२०) डिमाँस्ट्रेशन, (२१) नशा, (२२) बड़े भाई साहब, (२३) एक आँच की कसर, (२४) दीक्षा, (२५) समस्या, (२६) रामलीला, (२७) हिंसा परमोधर्म, (२८) गुल्लीडंडा, (२९) मोटर की छीटें, (३०) सच्चाई का उपहार, (३१) बाबाजी का भोग, (३२) बोध, (३३) मुक्तिधन, (३४) क्षमा, (३५) शिकारी रामकुमार, (३६) प्रेरणा, (३७) कजाकी, (३८) बज्रपात, (३९) मुक्ति माग ।

इन कहानियों में कुछ कहानियाँ ऐसी भी हैं जिनमें स्त्रीपात्र का संकेतात्मक अथवा प्रसंगवश ही उल्लेख हुआ है, अथवा समावेश हुआ है । ऐसी कहानियाँ हैं । (१) मनुष्य का परमधर्म (२) सत्याग्रह, (३) रामलीला, (४) हिंसा परमोधर्म, (५) कजा-की, (६) कफन, (७) अमावस्या की रात्रि, (८) युगनू की चमक, (९) गुप्त धन, (१०) प्रारब्ध, (११) दफ्तरी, (१२) मूँठ, (१३) सवासेर गेहूँ, (१४) साधना का रहस्य, (१५) स्मृति, (१६) शंख-नाद, (१७) बलिदान ।

इन कहानियों में स्त्रियों के चरित्र अथवा उसके किसी अंश की झलक नहीं मिलती । वे कहानी सूत्र की सहायता करने अथवा मनोवस्था को उत्तेजित करने अथवा घटना-माला में एक मनके की भाँति आगयी हैं । किसी-किसी कहानी में वे पुरुष के चरित्र की भाँकी कराने के लिए भूमिका की भाँति उपस्थित हुई हैं । दफ्तरी, अमावस्या की रात्रि, स्मृति का पुजारी इन तीनों

कहानियों में पुरुष का दैन्य मिलता है। उस दैन्य की मूल भूमिका में एक कहानी ने स्त्री को गृह-सम्बन्ध में लाकर पुरुष के दुख-सुख का चित्र खींचा है। दूसरी में स्त्री के जीवन-मोह में दुखी पुरुष की और जगत के व्यवहार की अवस्था की कल्पना है, तीसरी में पत्नी-परायण पुरुष के वियोग-दैन्य का प्रबल उल्लेख है। जुगनू की चमक में “स्त्री” इन पहली कहानियों की भाँति भूमिका में नहीं, यद्यपि देखने से पहले वह भूमिका की भाँति ही प्रतीत होती है। पुरुष जब स्त्री को स्त्री रूप में अथवा पत्नी रूप में ग्रहण कर रहा हो, तभी वह भूमिका में समझी जा सकती है। उस अवस्था में मनुष्य का प्रत्येक उद्योग, जो मुख्यतः कहानी का विषय होता है, उसी स्त्री-भाव से प्रेरित होता है—पुरुष पात्र के आचरण की दृष्टि कुछ अन्यथा नहीं होनी। पर जुगनू की चमक में ऐसी बात नहीं। वहाँ स्त्री, स्त्री के रूप में नहीं—दुखित अवला, अनाथ दीना की भाँति आती है और पुरुष का उद्योग स्त्री-प्रेरणा नहीं, बल्कि स्त्री से जागृत स्त्री-रक्षा के सम्बन्ध में पुरुष कर्तव्य, क्षत्रिय मर्यादा है। स्त्री की अपेक्षा अपनी वीर-मर्यादा ही प्रधान है। ऐसी अवस्था में स्त्री भूमिका नहीं बना सकती, वह केवल कहानी की आधार-तत्व बन कर आयी है।

मनुष्य का परम धर्म, सत्याग्रह, रामलीला, हिंसा परमोधर्म, कजाकी, गुप्त धन, प्रारब्ध, मूठ, सवासेर गेहूँ, सभ्यता का रहस्य, शंखनाद और बलिदान में स्त्री कहानी के सूत्र के किसी अंश-मात्र को प्रसंगानुकूल करने के लिए सहायक तत्व (Epicodical element) की भाँति हैं।

कफन में स्त्री का उपयोग लेखक ने न भूमिका, न आधार तत्व, अथवा न सहायक तत्व की भाँति किया, उसे यहाँ काटूनिस्ट की भाँति भाव उद्दीपक रेखा-उभार (Thought provoking relief lines) की भाँति अपने काम में लाया

गया है, कफन में जिन पुरुष-पुंगवों का चित्रण है, उनके चरित्र में स्त्री कोई स्थान नहीं रखती। उनकी कहानी के कथासूत्र में वह सहायक तत्व (Episodial element) सी प्रतीत होती है। परन्तु वह केवल सहायक-तत्व की भाँति कथासूत्र के अंश को समुद्रलित मात्र नहीं करती। वह आधार और भूमिका की भाँति चरित्र के चित्र में व्याप्त तो है किन्तु न वह भूमिका है क्योंकि चरित्र की कोई भी बात उसके लिए नहीं होती, न आधार है क्योंकि कहानी में यह चरित्र के किसी कारण अथवा मूल प्रेरणा की भाँति नहीं आई, वह केवल धुरी को भाँति आई है। धुरी पाट का, पाट की दृष्टि से एक बहुत ही सूक्ष्म और तुच्छ अंश है। वह पाट का काम नहीं करती, पाट के घुमाने मात्र का साधन है। पाट को घुमाने का वह मूल कारण भी नहीं, केवल उसकी टेक है। इतनी तुच्छ पर इतनी महत्वपूर्ण कि बिना उसके पाट व्यर्थ—इसी रूप में कफन में स्त्री को लाया गया है।

इन कहानियों के अतिरिक्त शेष सब कहानियाँ जिनका ऊपर उल्लेख हुआ है सर्वथा स्त्री के उल्लेख से शून्य है। इन कहानियों में क्या है, इसे देखने के लिए हमें इनका भी वर्गीकरण करना होगा। एक वर्गीकरण यहाँ किया जाता है—

स्त्री-शून्य कहानियाँ

१—तमालेख्य—हृदय का महत्त्व किन्तु नैतिक बलहीनता
सम्बन्धी : 'बज्रपात' ❁

१—परिहास-खिल्ली (redicule) सम्बन्धी—

१—मनुष्य का परम धर्म

२—गुरुमंत्र

३—विचित्र होली ❁

४—सत्याग्रह

५—मोटेराम शर्मा

२—व्यापार सम्बन्धी—१—भ्रम : मुफ्त का यश

२—छल : डिमांस्ट्रेशन ❀

३—स्वभाव : कफन

४—भाग्य : प्रारब्ध

३—मानव दुर्बलता सम्बन्धी—१ नैतिक—

१—निग्रह-भंग—‘समस्या’ ❀

२—अवस्था का आदर—बड़े
भाई साहब ❀

३—प्रवृत्ति दोष—दीक्षा

४—धन-लोलुपता—गुप्तधन

२ राजनैतिक—नशा ❀

३ सामाजिक—एक आंच की कसर

४ धार्मिक—१—आचरण सम्बन्धी—
रामलीला ।

२—मूढ़ता सम्बन्धी—हिसा
परमोधर्म ।

४—प्रभेद प्रदर्शक—१ गुल्ली डंडा ❀

२ सभ्यता का रहस्य ।

५—अत्याचार (oppression) संबंधी—

१—अमावस्या की रात्रि

२—सवा सेर गेहूँ

३—बलिदान

२—सतालख्य—१ नागरिकता संबंधी—१—उपेक्षा : मोटा की छींटे

२—सत्यपालन : सच्चाई का उपहार

३—चोरी : पशु से मनुष्य

४—मद्यानिषेध : दुस्साहस ❀

२—बोधोन्मोचक : १ सम्मान शोध : ‘बोध’ ❀ २ समाज-सेवा :

उपदेश, ३ अपरिग्रहः गुप्तधन ४ क्रूर कृपणता : सूठ,
५ गार्हस्थिक अकर्मण्यता : शंखनाद ।

३-धर्म-आदर्शः मानवसहृदयता सम्बन्धी—१ उपकारः
मुक्तिधन, २ शत्रुक्षमा : क्षमा, ३ अनाचार दमन :
शिकारी राजकुमार (रूपक), ४ दैवकृपा : आत्माराम
५ अछूत सेवा : मंत्र ।

४-आदर्श-रक्षा तथा त्याग :—१ राजनीतिक : आदर्श
विरोध २-नैतिक : प्रेरणा, सच्चार्ड का उपहार*,
३ बालक-प्रेमः कजाकी ४ सिद्धान्त प्रेम : बौडम,
५ पद ६ आदर्श : नमक का दरोगा : ६ नैतिकः
पछतावा, ७ स्त्री-प्रेम : स्मृति का पुजारी ।

५-पतनोत्थान सम्बन्धी—१ संस्कार-सम्बन्धी : पूर्व-
संस्कार, २ नैतिक : पशु से मनुष्यः मुक्तिमार्ग
३ गृहस्थ-धर्म सम्बन्धी : बेटी का धन ।

६-वीर-चरित्र सम्बन्धी : १ राज्यभक्त २ स्वत्व रक्षा
३ परीक्षा, ४ जुगनू की चमक, दफ्तरी ।

पहले दो बड़े विभाजन किए गए हैं, एक तमालेख्य, दूसरा सतालेख्य । इन कहानियों को देखने से यह बात बहुत ही साफ प्रतीत होती है कि कुछ कहानियाँ ऐसी हैं, जिनमें सत की ओर झुकाव है, कुछ ऐसी हैं, जिनमें ऐसा नहीं । 'सत' का अर्थ अपनी दृष्टि से यहाँ करना होगा । जीवन के उदार, उदात्त, दृढ़ और साहसपूर्ण भावों का चित्र जहाँ होगा, वह सत कहा जायगा । सत वह उज्ज्वलता है, जिसमें हृदय के कोमल और सात्विक भाव मिलते हों, जो इन गुणों से संस्कृत हो गई है, जिसमें ऐसी ही प्रवृत्ति का निदर्शन हो और उसीका चित्र उपस्थित किया गया हो । इस प्रवृत्ति की जिसमें या तो विजय दिखायी

गयी हो, अथवा उसे अनुत्साह-प्रद अवस्था में न चित्रित किया गया, हो तो वह 'सतालैख्य' कहलायेगा ।

‘तम’ इसका विपरीत भाव है । जिसमें अनुदात्त प्रवृत्तियों का सहारा लिया गया हो, मानव के दृढ़ और उज्ज्वल अंश पर प्रकाश न पड़ कर जो उन गहरों को हमारे सामने लावे, जिनमें अन्धकार है, अवसाद है; जिसमें जीवन की लुप्त वृत्तियों का सहारा लिया गया हो, वह ‘तम’ है । यह ‘तम’ ‘सत’ की प्रुष्ठ भूमि होता है । जो तम सत की प्रुष्ठ भूमि की भाँति काम नहीं करता, वह साहित्य में स्थान नहीं पाता । ‘सत’ की प्रुष्ठ भूमि की भाँति आने वाला ‘तम’ गम्भीर और ‘सत’ की ओर इंगित करता हुआ ‘सत’ के परामर्श से व्याप्त है—उसमें मानव दुर्बल वृत्तियों का सहारा होता है । उसमें लुप्तताओं का समावेश होता है । पर नीचताओं का नहीं, तो जहाँ ऐसी अनुदात्त, अनुदार, दुर्बल, लुप्त कंडिकाओं का आलेखन हुआ हो, वहाँ ‘तमालैख्य’ है । इस दृष्टि को सामने रख कर ‘अस्त्री-प्रधान’ कहानियों को पहले इन दो बड़े भागों में बाँट दिया गया है । प्रेमचन्दजी ने, यह निश्चय है कि कोई भी कहानी लिखते समय इस ‘तम’ और ‘सत’ के प्रवृत्ति-भेद को सामने न रक्खा होगा । उन्होंने तो साहित्य की सामर्थ्य को देखते हुए जिस प्रवृत्ति की भी सामग्री जुटी, जुटा दो । कितने कलाकार कला की सृष्टि करते समय यह चेतना रखते हैं, उसकी मूल प्रेरणा को हर दम ध्यान में रखते हैं । कला मौन ही, एक मुग्धता का जादू अपने मुरीद पर डाल देती है, वह एक नशे में डूबा हुआ, एक स्वप्न जगत और भाव-भूमि में विचरता हुआ लिख डालता है । प्रेमचन्दजी ने भी ऐसे ही लिखा है । यह बिभाजन तो हमारा काम है, हमें प्रेमचंद में जो मिल रहा है, उस सब को एक वैज्ञानिक की भाँति विश्लेषण करके देखना ही पड़ेगा ।

‘तमालेख्य’ पक्ष में जितनी कहानियाँ हैं, वे ६ वर्गों में विभक्त की जा सकती हैं। पहला भेद ‘परिहास’ अथवा ‘खिल्ली’ सम्बन्धी है। ‘रंगभूमि’ में ऐसे ही प्रसंग आजाने पर एक स्थान पर प्रेमचन्दजी ने लिखा है ‘चिढ़ने वाले चिढ़ते क्यों हैं, इसकी सीमांसा तो मनोविज्ञान के पंडित ही कर सकते हैं। हमने साधारणतः लोगों को प्रेम और भक्ति के भाव से भी चिढ़ते देखा है। कोई राम या कृष्ण के नामों से इसलिए चिढ़ता है कि बालवृन्द इसे घेरे रहें, कोई बेंगन या मछली से इसलिए चिढ़ता है कि लोग इन अखाद्य वस्तुओं के प्रति घृणा करें। सारांश यह है कि चिढ़ना एक दार्शनिक क्रिया है। इसका उद्देश्य केवल सन् शिष्टा है।’ यह बात लेखक ने चिढ़ने वालों के लिए कही है, यह अधिकांश जान-बूझ कर चिढ़ने वालों के लिए ही है। कहीं पर चिढ़ना दार्शनिक क्रिया न होकर भौतिक और मानसिक क्रिया मात्र हो जाती है। उस अवस्था में उसमें सत-शिक्षा का परामर्श भले ही हो, वह स्वयं सत-शिक्षा नहीं। पर प्रश्न यह है कि चिढ़ाने वाला क्यों चिढ़ाता है? परिहास और खिल्ली वस्तुतः उस सत पर पहुँचने के तमम् मार्ग हैं। तो ऐसी कहानियों में जैसे मनुष्य का परम धर्म, गुरुमन्त्र, विचित्र होली, सत्याग्रह, मोटेराम शास्त्री इसी तमस प्रवृत्ति का चित्रण हैं। प्रेमचन्द का हास्य ‘हास्य’ नहीं परिहास है। वह काट करने के लिए है। उसमें व्यंग्य है, उक्त कहानियों में मनुष्य का परम धर्म गुरुमन्त्र, और सत्याग्रह ता मोटेराम शास्त्री के ही विविध और विभिन्न संस्करण हैं। सब की एक कोटि है, किन्तु विचित्र होली इनसे भिन्न क्षेत्र की है। उनसे टेकनीक में भी यह भिन्नता है कि वे कहानियाँ विनोद में व्याप्त हैं, और सीधी सरल रेखा की भांति एक चरित्र की सजीव हास्यास्पदता दिखा कर समाप्त हो जाती हैं। कोई (Conversion) मत-सुधार की सूचना उसमें

नहीं। विचित्र होली में इस 'मत-सुधार' का उल्लेख है, अधिकारी वर्ग और अधिकृत वर्ग के सम्बन्ध पर यह व्यंग (satire) है।

दूसरा वर्ग 'व्यापार-सम्बन्धी' कहानियों का है। इन कहानियों में मानवीय व्यापारों को लक्ष्य में रख कर उनकी तमस्-प्रवृत्ति-तमस-मूल को प्रत्यक्ष करने का प्रयत्न है। 'मुफ्त का यश' कहानी में साधारणतः अवसाद नहीं मिलता, पर 'मुफ्त का यश' क्यों लिखा ? जब इस प्रश्न पर ध्यान जाता है तो पता चलता है कि उसका आधार भ्रम है, डिमाँस्ट्रेशन में हलका अवसाद है। यद्यपि वह चित्त को व्यथित नहीं करता। इस अवसाद में छल मूल कारणा की भांति है। नाटक-लेखक और उसके साथी कम्पनी के अध्यक्ष को छल से रचना का महत्व दिखाना चाहते हैं। वैसे ही छल से वह उन्हें निरुत्तर कर नाटक ले लेता है, और कौड़ी भी नहीं देता। इन दोनों कहानियों में जिन मूल प्रवृत्तियों का परिचय मिलता है, वे निस्सन्देह तमस हैं, शेष दो कहानियाँ हैं, कफन और प्रारब्ध। इनमें से कफन में स्वभाव का चित्रण है। भ्रम और छल की भांति स्वभाव आचार शास्त्र में स्वयं 'तम' क्षेत्र का नहीं। स्वभाव सत और असत दोनों प्रकार का हो सकता है। पर 'असत' सत के विपरीत होने के कारण गुरा अर्थ रखता है। तम असत नहीं, असत से हमें घृणा होता है। उसकी हम प्रशंसा कभी नहीं कर सकते, पर 'तम' में वह बात नहीं, 'तम' हमारे घृणा की वस्तु नहीं। सत से रहित स्वभाव 'असत' भी हो सकता है। कफन में स्वभाव तमस है। ऐसी दो विमूढ़ आत्मायें—सबसे भले हैं मूढ़, जिनहिं न व्यापै जगत गति—इस कहानी में आ गई है, कि वे जिस चेतना के वशीभूत होकर अपने कार्य करती हैं, उसमें स्वेच्छा का स्थान नहीं। अतः पाप-पुण्य का प्रश्न वहाँ नहीं उठ सकता। दूसरे शब्दों में सत-असत की गाथा यहाँ व्यर्थ है, पर वह

स्वभाव तमस इसी कारण से है जिससे यह सत और असत् नहीं है। मानो उनका मानव कष्टों की भाँति उग्र बुभुक्षा के सामने सिकुड़ बैठा हो और उनके कंकाल पर चिर अतृप्ति के भूत ने अपना आगमन जमा लिया हो। स्वभाव की भाँति प्रारब्ध अथवा भाग्य भी पहले सत अथवा तम अथवा असत् से असम्बद्ध लगता है। भाग्य के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि वह अच्छा भी हो सकता है और बुरा भी, पर ऐसा नहीं। 'भाग्य' को खोना ही मानव का दुर्भाग्य है, उसकी सबसे बड़ी हार है। भाग्य के सहारे जीतते हुए व्यक्ति भी हारे हुए हैं। उसमें उदात्त, उदार, दृढ़ और साहसपूर्ण स्थितियों के लिए स्थान नहीं—मानव जैसे विगलित हो गया हो। अतः भाग्य में स्वतः तमस है, इसमें तो तमस् को छिपाने के लिए, जो भाग्य को सौभाग्य करके दिखाया जाता है, जो भाग्य को उत्कर्ष का साधन दिखाया जाता है, वह भी नहीं। भाग्य के हाथों करारी हार है। भाग्य ने मानव को चारों कोने चित्त पटक मारा है। इस दृष्टि से इस कहानी के सभी व्यापार तमस हैं। इन कहानियों को व्यापार सम्बन्धी वर्ग इसलिए कहा गया है कि इसमें मनुष्य से अथवा उसके द्वारा होनेवाले व्यापार-मात्र को लिया गया है। व्यापार के लिए जो हीन साधन आये हैं, वे मनुष्य के निजी परिचय के बाहर के हैं। भ्रम, छल, स्वभाव और भाग्य ये चारों ही मनुष्य के लिए निजी जगत की चीजें नहीं। ये व्यापार जगत की चीज हैं। यह प्रश्न हो सकता है कि स्वभाव को भी मनुष्य से बाहर की चीज क्यों बताया गया? उत्तर सीधा है कि यहाँ वही स्वभाव अपेक्षित है जो मानव की अपनी प्रवृत्ति को दबोच बैठा है, जो विभाव होकर भी स्वभाव का बाना पहनकर प्रफुल्ल है।

तीसरा वर्ग मानव दुर्बलता सम्बन्धी है, मानव दुर्बलतायें क्या दो—तीन हैं। इन कहानियों में तो कुछ प्रमुख पुरुष सम्बन्धी

दुर्बलताओं का आधार लिया गया है। पहले विषय की दृष्टि से इसके चार भाग किए गए हैं। नैतिक, राजनैतिक, सामाजिक तथा धार्मिक। नैतिक दुर्बलतायें वे हैं जो व्यवहार में मन के संस्कारों को कमजोर बना दें। उनके पालन करने के लिए तर्क अथवा प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती है। वे मन के उन संस्कारों से बनी होती हैं, जिन्हें सहज और साधारण बुद्धि कार्य के सुचारु सम्पादन के लिए दूर दृष्टि से देखते हुए अत्यन्त उपयुक्त समझती है, जिसमें उसे शुद्ध मानवता का ही मौलिक बल मिलता है; जहाँ इस बल को क्षीण दिखाया जाय, वही नैतिक दुर्बलता होगी। खुशामद करना अथवा रिश्वत देना अपने आपको अत्याचार से बचाने के लिए भी दुर्बलता है। पर इसके बल पर दूसरों पर अत्याचार करने लग जाना उस दुर्बलता का ताण्डव नर्तन है। 'समस्या' में यही नैतिक पतन दिखाया गया है। अवस्था का आदर करना ही चाहिए, बुद्धि-भेद से छोटा यदि बड़े से आगे निकल जाय, न सही बराबर ही आ जाय, तो छोटा यदि गर्व में फूल बड़े की अवहेलना करे, तो नैतिक भित्ति ढह जायगी न? बड़े भाई साहब में इसी की ओर संकेत। मन, वचन, कर्म यदि भिन्न हों तो उसमें कानूनी अथवा सामाजिक व्यवस्था कोई दोष नहीं समझेगी, किन्तु नैतिक व्यवस्था उसे क्षमा नहीं करेगी। जो वचन दिया जाय, उसे पूरा करना ही चाहिए, जो दीक्षा ली जाय, उसे निभाना ही चाहिए। तोड़ना नैतिक दुर्बलता है, टूट जाने पर हमको और ग्लानि होनी ही चाहिए। 'दीक्षा' में इसी नैतिक धरातल को रखा गया है। लोलुपता कुछ इसलिए बुरी नहीं कि ईशोपनिषद् में वेद आदेश हैं कि 'मागृधा कस्यस्चिद्धनम्', क्यों लोलुप मन हो? इसका यथार्थ कारण कुछ भी हो, पर यह निश्चय है कि उसमें

नीति की हानि है। लोलुपता नैतिक दुर्बलता का ही एक रूप है, 'गुप्त धन' में यही चित्रित की गई है।

राजनैतिक दुर्बलता है राजनैतिक आदर्शों का समर्पण, राजनैतिक आदर्शों से स्वतन्त्र। मानव न जाने कितनी दुर्बलताओं का पुतला है। ये दुर्बलतायें यां स्वयं भी कम भयानक नहीं, पर परिस्थितियाँ यदि इनसे साठ-गाँठ कर लें तो यह विकराल हो जाती हैं। फिर सिद्धान्त की रक्षा बोर ही कर सकते हैं—भावुक मनुष्य नहीं। साम्यवाद पर विश्वास रखने वाला यदि जमींदार के घर में जाकर शासन-प्रिय हो जाय, अपने को 'जन' से भिन्न वर्ग में समझने लगे, युक्ति से नहीं, मद से, तो जिस कहानी का निर्माण होगा वह 'नशा' कहलावेगी।

इसी राजनैतिक दुर्बलता को बहिन सामाजिक दुर्बलता है। यों तो किसी भी ऐसे काम को प्रलोभन में पड़ कर करना जो समाज के व्यक्तियों के लिए अत्याचार पूर्ण रुढ़ियाँ खड़ा करे, अथवा किसी भी ऐसे काम को न करना प्रलोभन में पड़कर अथवा विवश होकर कि जिसके करने से समाज किसी अत्याचार से बचता हो, वह मानवीय दुर्बलता है, जो सामाजिक कही जायगी; पर इसमें भी आगे, जो यश लोलुप उन प्रलोभनों से उस कुरीति को पालन करता हुआ; केवल दिखावे में सुधारवादी बनने की घोषणा करे, उसका विज्ञापन कराये तो वह घोर नैतिक पतन के गर्त में गिर पड़ा है, 'एक आंच की कसर' में ऐसा ही चरित्र दिखाया गया है -

धार्मिक दुर्बलता है, धर्म का नाम रह जाय, पाखंड का बोल वाला ही, धर्म आत्मा से शून्य हो जाय। 'रामलीला' धार्मिक संस्था है, राम को जहाँ भूखों विदा किया जाय, पर रंडी को दक्षिणा चढ़ाई जाय, वहाँ यही दुर्बलता है। जहाँ धर्म है पर-पीड़ा

में उपकार करना, वहीं विमृढ़तावश विधर्मी को दुख देना ही कर्तव्य समझा जाय तो यह भी धार्मिक दुर्बलता है—“हिंसा पर-मोधर्म” ऐसी ही कहानी है।

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि इन कहानियों की प्रवृत्ति तमस की ओर ही है।

चौथा वर्ग 'प्रभेद-प्रदर्शक' कहानियों का है, कुछ ऐसी बातें होती हैं जिनसे मनुष्य मनुष्य से भेद उत्पन्न हो जाता है। इन पर आदमी का हाथ नहीं होता, भ्रम, झूठ जैसे व्यापारजन्य कारण इसमें नहीं आते, न मनुष्य इसमें स्वयं कारण होता है, अतः उसकी दुर्बलता भी इसमें नहीं आती। वह तो पद अथवा परिस्थिति से ऐसा तमस ऐसी अनुदात्तता उत्पन्न हो जाती है, कि आप उससे संघर्ष करें, तब भी उसे दूर नहीं कर पाते। 'गुल्ली डंडा' में यह प्रभेद-प्रदर्शन पद-भेद के कारण हुआ है। एक गरीब प्रामोण है, दूसरा उसका बालमित्र बड़ा आदमी हो गया है, वह प्रामोण उस भेद को भूल नहीं सकता।

'सभ्यता का रहस्य' नाम की कहानी इस वर्ग में इसलिए रक्खी गई है कि इसमें भी एक सरकारी अधिकारी और उसके सेवक का भेद केवल स्वामी और सेवक के भेद की भाँति नहीं बतलाया गया, वरम दोनों के कार्य मूलतः एक से हैं, पर सेवक चोर, विश्वासघाती आदि दोषों से युक्त बताया जाता है, जब कि स्वामी वैसे ही कृत्य करता हुआ बचा रहता है। ऐसा भेद भी प्रदर्शित किया है यद्यपि 'कौशल' का सहारा लिया गया है। और इस कारण इसे 'व्यापार सम्बन्धी' कहानियों में रक्खा जा सकता है, फिर भी लेखक का मुख्य उद्देश्य भेद दिखाना ही है, इसलिए यह 'प्रभेद-प्रदर्शक' वर्ग में लाई गई है। फिर वह कौशल तो स्वामी उपयोग में लाता है, जहाँ तक स्वामी की कहानी का सम्बन्ध है, वही व्यापार सम्बन्धी हो सकती है, पर उसके साथ

उसके सेवक का आचरण तुलना में रक्खा गया है और इन दोनों में जो भेद उपस्थित होता है वह ऊपर की परिभाषा के विलकुल ठीक अनुकूल है।

पाँचवे वर्ग में वे कहानियाँ हैं, जिनमें अत्याचार की प्रबलता है। अत्याचार में तमस् की मात्रा बहुत अधिक होती है। मानवीय सन का अभाव ही हो जाता है व्यापार किसी मानसिक प्रसंग से नहीं होता और न मानवीय दुर्बलता ही उसे प्रेरित करती है। भेद होता है किन्तु भेद-दर्शन के लिए नहीं, वह तो हृदय हीनता की अवस्था है, अतः उसको व्यक्त करने वाली कहानियाँ अलग वर्ग में ही रक्खी जानी चाहिए, “अभावस्था की रात्रि” में दुर्देव से दरिद्र बने हुए व्यक्ति को वैद्य ने इस लिए ठुकरा दिया कि वह फीस नहीं दे सकता। प्राण का मूल्य वैद्य की दृष्टि में कुछ नहीं, केवल धन का मूल्य है। महाजन सवा सेर गैहूँ के बदले कैसे विचारे दीन और उदार किसान को और उमके लडके को गुलाम बना लेता है यही अत्याचार ‘सवासेर गैहूँ’ वाली कहानी में दिखाया गया है, ‘बलिदान’ में भी कुछ ऐसा ही अत्याचार दिखाया गया है।

छठे वर्ग में एक कहानी है मनुष्य का हृदय तो कुछ हो, पर नैतिक साहस का नितान्त दिवाला निकल गया हो। जहाँ अपनी ‘प्रिय’ वस्तु की रक्षा के लिए दीनता और विकलता हो, पर उसके लिए बल और साहस न हो, वहाँ जो दुखान्त परिणाम होता है, वहाँ कहानी में तमस् का भाव मिलता है। ‘बअपात’ ऐसी ही कहानी है, उसमें वजीर के कौशल ने प्रजा को मृत-खच्चर से बचा दिया, यह एक बात कुछ सुखद तो है पर शाह-नशाह का विश्वासघात के हाथों अपने हृदय का संवल निकल जाना जिस दुखदता को उपस्थित करता है, वह उस सुखदता से प्रबल हो जाती है। कहानी यों भी कौशल, छल और विश्वासघात

से ही सुखदता के अंश को पासकी है, इसलिए व्यापार सम्बन्धी तमस से पूर्ण है, पर उस दुखदता का प्राधान्य हो जाने से वह उससे एक भिन्न वर्ग की हो गई है।

इतनी कहानियाँ इस एक वर्ग की हुई हैं। दूसरा भाग "सतालैख्य" कहानियों का है। यह उज्ज्वल पक्ष सम्बन्धी कहानियाँ हैं। मानव जीवन की वे प्रवृत्तियाँ, वे मनोवस्थायें जिनमें क्षोभ और संकोच नहीं, इन कहानियों में चित्रित हैं। जिनमें दुख के साथ ही उज्ज्वलता है, त्याग के साथ भी उत्थान है, बलिदान के साथ भी उल्लास है—जिन प्रवृत्तियों के मूल में कोई अनुदात्त, अनुदार, दुराग्रह का नाम नहीं। इनके भी ६ बड़े भेद किए जा सकते हैं। वे हैं (१) नागरिकता सम्बन्धी, (२) बोधोन्मोचक, (३) धर्म-आदर्श (मानव सहृदयता सम्बन्धी) (४) आदर्श-रक्षा और त्याग सम्बन्धी, (५) पतनोत्थान सम्बन्धी, (६) वीर चरित्र सम्बन्धी। इस विभाजन में यह प्रकट होगा कि कहानियों के 'मौलिक अभिप्रायः भेद' पर दृष्टि रक्खी गई है, किन्तु वह अभिप्राय किसी किसी कहानी में इतना जटिल और अशुद्ध है, कि वर्गीकरण निर्दोष नहीं कहा जा सकता। उदाहरण के लिए नागरिकता सम्बन्धी कहानियों को लीजिए, 'नागरिकता' एक विशद शब्द है, नागरिक के लिए हम सभी उज्ज्वल गुणों की आवश्यकता समझते हैं, किन्तु नागरिक का अर्थ यदि यही किया जाय कि व्यवहार के मानवीय अधिकारों और कर्तव्यों के लिए जागरुकता और उद्योग, तो क्षेत्र सीमित हो जायगा और ठीक समझा जा सकेगा, फिर भी 'सच्चाई का उपहार' जैसी कहानी में जहाँ सत्याचरण के प्रति जागरुकता और उद्योग दिखाया गया है वहाँ सत्याचरण आदर्श का रूप भी ग्रहण करने लगा है। वह आचरण के व्यवहार से दूर होकर उसके दार्शनिक ओज (Philosophical grandeur) के निकट

जा पहुँचा है। उस आचरण की रक्षा के लिए त्याग, आदर्श-रक्षा और त्याग सम्बन्धी कहानियों के धरातल का होने लगा है। आचरण में सत्य लाने का उद्योग नागरिकता मात्र है। आदर्श की बात न होकर व्यवहार की बात है, यही कारण है कि इस कहानी को दोनों भेदों में स्थान दिया गया है। ऐसी ही एक दूसरी कहानी “पशु से मनुष्य” है। इसका मूल अभिप्राय आदर्श को आचरण की भाँति रख मानव को सन्मार्ग पर चलने वाला दिखाना है। हमारे व्यवहार में परिस्थितियाँ बहुत सहायक हैं, वे हमें चोर बना सकती हैं, उन्हें बदल दीजिए, हम चोर न रहेंगे इस दृष्टि से इस कहानी में व्यवहार के मानवाय अधिकांश और कर्तव्यों के लिए जागरूकता स्पष्ट मिलती है पर एक व्यक्ति जो एक परिस्थिति में पतित दीखा था, दूसरी परिस्थितियों में उच्च और उन्नतमना दीखता है। इस प्रकार उस मूल अभिप्राय के साथ एक दूसरा मूल अभिप्राय लेखक ने यह भी मिला दिया है कि मानव को केवल पतित ही न समझ लेना चाहिए, उसमें उत्थान के लिए सामग्री है, यही कारण है कि यह कहानी भी नागरिकता सम्बन्धी तथा पतनीत्थान सम्बन्धी दो वर्गों में रक्खी गई है।

सतालैख्य कहानियाँ सभी आदर्श-प्रवृत्ति प्रधान होंगी, क्योंकि उसमें (optimist) आशाप्लुत तत्त्वों का आलेख्य करना ही पड़ता है। आशाप्लुत तत्त्वों में जो सामग्री है, वही इन कहानियों का विषय बन सकती है; परिणाम दुःखद या सुखद हो, यह इन कहानियों के स्वभाव को कुछ अन्यथा न कर सकेगा। ‘आदर्श विरोध’ नाम की कहानी ‘आदर्श-रक्षा और त्याग’ में रक्खी गई है, उसमें एक पुत्र अपना आत्मघात कर लेता है, हमारी सहानुभूति भी उसी के प्रति रहती है। ऐसी अवस्था में कहानी दुःखान्त है, एक ट्रेजेडी है, पर यह उत्सर्ग जिस आदर्श

के लिए हुआ है, वह उज्ज्वल है, और उस ऊँचाई की प्राप्ति के लिए यदि यह उत्तम या वलिदान करना पड़ा तो उचित ही है। मृत्यु सदा अनुज्ज्वल करने वाली ही नहीं होती, वह कभी-कभी विशेष उदात्तता पैदा कर देती है, किसी ऊँचाई पर पहुँचने के लिए यदि मृत्यु अनिवार्य ही हो जाय तो वहाँ रूप द्वेजडी का हो दुःखान्त का भले ही हो, मूल अभिप्राय में उल्लास और उज्ज्वलता ही रहेंगी, अतः यह दूसरी बात है कि जो इस विभाजन को समझने में सहायक होंगी। जब सभी कहानियाँ मूलतः आदर्श भाव से युक्त हैं, तो आदर्श मात्र के आधार पर कहानियों का विभाजन नहीं हो सकता था, इन आदर्शों के स्वभाव को भी दृष्टि में रखा गया है। बोधोन्मोचक कहानियों में, उसी प्रकार पतनोत्थान सम्बन्धी कहानियों में वर्गीकरण की दृष्टि में एक ही शैली मिलती है। दोनों में एक आन्तरिक भेद यह है कि बोधोन्मोचक कहानियों में किसी शुभ बात का “ज्ञान” होता है, आँखें खुलती हैं, पतनोत्थान की कहानियों में चरित्र में परिवर्तन होकर शुभ दिशा की ओर उत्थान होता है।

नागरिकता को व्याख्या हो चुकी है। इसकी दो कहानियों पर भी वहीं प्रकाश डाला जा चुका है। इस शीर्षक के आधीन दो कहानियाँ और हैं। ‘मोटर की छोटें’ नामक कहानी नागरिक कर्तव्यों की अवहेलना पर व्यंग्य है, मोटरवालों को जो दुर्दशा दिखाई गई है, उससे यह सन्देह हो सकता है कि वह कहानी भूल से सतालेश विभाग में रख दी गई है, पर ऐसी बात नहीं, कहानी का मूल अभिप्राय उज्ज्वल है, उस अभिप्राय को लेखक ने जिस अनुदारता के छद्म में रखा है, इससे उदात्त आशय मन्द नहीं होता। इसी से इस व्यङ्ग्य में गम्भीरता जहाँ अभिप्राय में है, वहीं अभिव्यक्ति में तरल हास्य आ गया है। मोटेरामजी की जो कहानियाँ तमालेश्वर्य बताई गई हैं उनमें इसी भाव का

अभाव है। उनसे इस कहानी का स्वभाव विलकुल अलग है, ऐसी ही दूसरी कहानी “दुस्माहम” मद्यनिषेध सम्बन्धी है, मद्यनिषेध किसी आदर्श-प्रेरणा से सम्बन्ध नहीं रख सकता, व्यवहार के आदर्श ने ही उसका सम्बन्ध है, कहानी के मूल में दुष्प्रवृत्त व्यक्तियों में इस व्यवहारिक आदर्श का प्रकाश है, वे जागरूक हो जायेंगे तो कर्तव्य के लिए उद्योग भी कर सकते हैं, यह उद्देश्य भाव है, अतः यह कहानी इसी वर्ग में आ सकती थी। ‘पतनोत्थान’ से इसमें कुछ साम्य प्रतीत होता है, परन्तु लेखक ने पतन को पतन के रूप में नहीं दिखाया, उसे पतन की मान्यता में बाहर रखवा है। मद्यपान, अनागरिक व्यवहार है, उसके लिए दुराग्रह करना अनौचित्य कहा जायगा, दोष भी भले ही हो, पर पतन तक वह दुराग्रह नहीं पहुँचने पाया, इसीलिए पिकेटिंग होते हुए भी किसी की प्रार्थना और विनती पर बिना ध्यान दिए चारों ओर से भर्त्सना और निरादर के वातावरण की उपेक्षा करते हुए सब के विरोध के समक्ष भी शराब खरीदना साहस है, उसे आप दुस्माहम कह सकते हैं—वही लेखक ने कहा भी है, उससे आगे आप उसे पतन नहीं कह सकते—यहाँ तक कि अनाचार भी नहीं कह सकते। अतः जब पतन ही नहीं, तो उत्थान का प्रश्न नहीं आता, अतः कहानी केवल नागरिकता सम्बन्धी है।

दूसरा वर्ग बोधोन्मोचक कहानियों का है, इस वर्ग में पाँच प्रकार के बोधों का आलेख्य हुआ है। पहली कहानी जिसका नाम ‘बोध’ है, सम्मान शोध के लिए है, जगत की यह एक विडंबना है कि उसमें सम्मान का जहाँ दिखावा होता है, वहाँ सच्चा सम्मान नहीं होता। अधिकारियों का सम्मान इमी कोटि का है, पर शिक्षक का सम्मान ठोस और सच्चा है, शिक्षक भूल करता है, यदि वह अधिकारारूढ़ व्यक्तियों के सम्मान को देख अपने

सम्मान का अन्दाज लगता है, दूसरी कहानी 'आदेश' है—समाज-जाति की सेवा का सच्चा स्वरूप क्या है, इसका बोध इसमें कराया है। केवल व्याख्यान देना और यश बटोरना आदि जो अपना कर्तव्य समझते हैं, वे समाज-सेवा के योग्य नहीं, वास्तविक सेवा ही उचित है। तीसरी कहानी "गुप्त धन" में धन-लिप्सा के कारण दुर्वस्था और मृत्यु होती है। अन्त में ज्ञान उदय होता है—जो अपना नहीं, उसे ग्रहण मत करो, दूसरे की वस्तु को लेने की नीयत ही अकल्याणकर है, 'मागृधा कस्य चिद्धनम्, ईशोपनिषद् में कहा गया है, इसमें अकल्याण का करुण चित्रण होने से भी इस तमालेख्य नहीं माना जायगा। अकल्याण तो परिणाम है, मूल अभिप्रायः उज्ज्वल है, स्वास्थ्य-प्रद है, इसीलिए "सत" है। ऐसे ही अकल्याण के चित्र से युक्त मूठ कहानी है। कृपण क्या इतना क्रूर हो सकता है कि धन के लिए जीवन का भी अर्थ भूल जाय। नहीं हो सकता, कृपणता जीवन-नाश की ओर बढ़ाती है, प्रतिहिंसा का भाव उठाती है, पर जब क्रूर संकल्प पूर्णता को पहुँचता दिखाई पड़ता है, तो तमस्-हृदय में जाते—जीवन का मूल्य दिखाई पड़ता है अन्धकार में विजली सी कौंध जाती है, बोधोन्मोचन हो जाता है, पाँचवी कहानी गृहस्थ-व्यथा की है, पुरुष की सोई हुई पुरुषार्थ प्रवृत्ति अपने बालकों को चरम दैन्य में देखकर आँख मीढ़ती उठ पड़ती है, ऊपर यह बतलाया जा चुका है कि बोधोन्मोचक कहानियों का ढंग भले ही पतनोत्थान सम्बन्धी कहानियों जैसा हो, पर स्वभाव भिन्न है, इसमें पतन नहीं दिखलाया गया, मानव को अन्धकारोच्छन्न प्रकाश की बाट जोहता हुआ उपस्थित किया गया है। जैसे अनौचित्य मात्र पतन नहीं, वैसे ही अन्धकारमात्र से आच्छन्न होना, प्रकाश से वंचित होना पतन नहीं। ऐसी अवस्था में उत्थान भी नहीं, अतः ये कहानियाँ बोधोन्मोचक ही हैं।

तीसरा वर्ग धर्म-आदर्श (मानव सहृदयता) सम्बन्धी कहानियों का है। इन सभी कहानियों में धर्म को किसी न किसी रूप में अवश्य लाया गया है। 'मुक्ति धन' में धर्म में माता माने जाने वाली गाय के प्रति सद्भावना का केन्द्र बनाया गया है, 'क्षमा' में विधर्मी को क्षमा से जीतने का उल्लेख है, 'आत्माराम' में देवकृपा से गुपुप्त धार्मिक भावों के जागृत होने की कथा है, 'मन्त्र' में धर्म प्रचार के लिए जाने पर सच्चे धर्म के बोध का भाव है, 'शिकारी राजकुमार' में यद्यपि ऐसा कोई धर्म का प्रसंग नहीं, यह कहानी एक रूपक की भांति है, फिर भी इसमें योगी द्वारा शिकारी राजकुमार को अपने कर्तव्यों की ओर ध्यान आकर्षित कराने में धार्मिक भावना का ही प्राधान्य है। धर्म की ऐसी व्याप्ति होते हुए भी ये कहानियाँ तमालेख्य में नहीं आ सकतीं, इनमें धर्म के साथ जो मूल अभिप्राय सन्निद्ध है, वह उदात्त और उज्ज्वल है, वह उदात्तता 'शिकारी राजकुमार' को छोड़ शेष सभी कहानियों में आदर्श की कोटि तक जा पहुँची है। 'मुक्ति धन' में एक मुसलमान ने गाय के प्रति अपना प्रेम प्रकट कर उसे एक हिन्दू को ही बेचा। उस भाव ने उस हिन्दू को कितना कृतज्ञ बना दिया कि सैकड़ों रुपये उधार देकर भी उस गरीब मुसलमान को अन्त में अपने ऋण से मुक्त कर दिया। यह सद्भाव आदर्श हो गया है, वह उस हिन्दू में स्वयं जागृत हो पड़ा है, यद्यपि परिस्थितियों में उस मुसलमान की करुणामात्र ही हमें चित्रित मिलती है। यह स्वयं जागृत आदर्श पीछे गाय द्वारा प्राप्त सम्पत्ति और सुख से अवश्य पोषित है, पर ये सब अक्रियशील स्थितियाँ हैं, क्रियाशील स्थिति तो वही गाय बेचते समय मुसलमान का उसके प्रति सद्भाव है, शेष सब उसी भाव का हिन्दू में आदर्श प्रतिफलन है। 'क्षमा' में एक विधर्मी को उस वृद्ध ने क्षमा किया, जिसके पुत्र

का वह घातक था। यह क्षमा भी आदर्श हो गई है। उस वृद्ध के सहधर्मी जब उमके विरुद्ध हों, उसके पुत्र का घात कर वह प्राणों के लोभ से भागा फिरता हो। उसे वह आश्रय दे और अभय प्रदान करे, यह उदात्त क्षमा आदर्श से भी उच्चकोटि की है। 'आत्माराम' में सुनार ने धन पाकर जो धर्म-परायणता दिखाई है, वह भी आदर्श है, इसलिए कि धन में दुष्प्रवृत्ति को जाग्रत करने की क्षमता रूढ़ हो गई है। धन विलास के लिए मुख साम-प्रियों का द्वार खोलने वाला साधन है। पर सुनार उधर न फिरा, वह धर्म-परायणता की ओर अग्रसर हो गया—उदात्त भावना ने अनुदात्त भावनाओं का स्वप्न भी न देखना चाहा, उसमें एक क्षण के लिए भी पल की निजी भोग में लाने का भाव उत्पन्न नहीं हुआ। 'मन्त्र' से राजा-राजिनी का सकुटुम्भ से पड़ अछूत सेवा में तत्पर रहना भी उदात्त भावना को आदर्श रूप दे देता है। 'शिकारी राजकुमार' में आदर्श का रूप नहीं उपस्थित किया गया, आदर्श प्रेरणामात्र से काम चलाया गया है, इसमें आदर्श का आदेश है जिसका धर्म है "मानव" के प्रति सहृदयता। राजकुमार को यही बताया गया है कि जो समाज के शत्रु हैं, मनुष्य रूपी भेड़िए, उनका शिकार करो इस प्रकार यह कहानी शेष चार कहानियों से कुछ भिन्न हो जाती है, पर इस वर्ग से बाहर फिर भी नहीं हो पाती।

चौथा वर्ग 'आदर्श-रक्षा तथा त्याग' सम्बन्धी कहानियों से सम्बन्धित है, इन कहानियों में आदर्शों का समावेश है किन्तु वे ही आदर्श जो धर्म से सम्बन्ध नहीं रखते, वे आदर्श जो मनुष्य ने अन्य क्षेत्रों में स्वीकार कर लिए हैं, राजनैतिक क्षेत्र के आदर्श से सम्बन्ध रखने वाली कहानी 'आदर्शविरोध' है, नैतिक क्षेत्र के आदर्शों का जिनमें उल्लेख है, वे हैं 'प्रेरणा' 'सच्चाई का उपहार' 'पछतावा', अधिकारारूढ़ व्यक्तियों के आदर्शों का समावेश

‘नमक के दारोगा’ नामक कहानी में है। ‘पछतावा’ भी कुछ-कुछ अधिकारारूढ़ व्यक्तियों के आदर्श से सम्बन्ध रखती है। नैतिक तत्व तो प्रायः सभी व्यवहार के आदर्शों में मिलता है, ‘नमक के दारोगा’ में नैतिक तत्व ही है किन्तु उस नैतिक तत्व का क्षेत्र उस तत्व के उपयोग की दृष्टि से कुछ भिन्न हो गया है, इसीलिए उसे एक अलग प्रकार की कहानी मान लिया गया है, अतः ‘पछतावा’ में नैतिक तत्त्व विशेष प्रधान है। अधिकार अथवा पद का आदर्श उतना प्रधान नहीं, पद का उल्लेख तो केवल नैतिक आदर्श की अभिव्यक्ति के लिए ही किया गया है। ‘नमक के दारोगा’ में जो आदर्श है, वह नैतिक होते हुए भी पद से घनिष्ठ रूप से संबद्ध है। उसका पालन न करना अधिकार अथवा पद से विश्वासघात करना कहा जायगा। धन के सामने आदर्श को न झुकने देना, सतालेख्य प्रवृत्ति का पोषण करना और बीरता के भाव को स्पष्ट करना है। ‘पछतावा’ में जिस नैतिक आदर्श को ग्रहण किया गया है, वह अधिकार के क्षेत्र से इतर है, पर अधिकार पीठ से किया गया है। इसमें पद उस नैतिक आदर्श के लिए सहायक बनकर आया है, जो उस पद से और पद के उत्तरदायित्व से भिन्न हैं। ‘नमक के दारोगा’ में उस आदर्श का दिग्दर्शन है जो पद के सर्वथा अनुकूल है। नमक की चोरी पकड़ना और बड़े से बड़े लालच और भय में भी इस कर्तव्य से च्युत न होना, इसीलिए—इसी उत्तरदायित्व के लिए नमक के दारोगा का पद है। यह कर्तव्य और पद समानान्तर हैं, साथ साथ हैं, पर पछतावा में जो कर्तव्य है, वह मानवीय कर्तव्य है और उस कर्तव्य का स्पष्ट विरोध है, उन कर्तव्यों से जो कारिन्दा अथवा जमींदारी के प्रबन्धक में रूढ़ माने जाते हैं, अतः यहाँ कर्तव्य और पद परस्पर विरोध में हैं—कर्तव्य नैतिक है, मानवीय है, पद सम्बन्धी नहीं, यही कारण है कि कहानी का

आधार, मूल में कुछ एकसा होते हुए भी, पछतावा केवल नैतिक कहानी मानी गई है।

इसी वर्ग में 'कजाही', 'बौडम', 'स्मृति का पुजारी' जैसी तीन कहानियाँ भी सम्मिलित की गई हैं। ये तीनों कहानियाँ इस वर्ग की अन्य कहानियों की भाँति किसी आदर्श को स्पष्ट रूप से अपने मूल अभिप्राय की भाँति नहीं लिए हुए हैं, लेखक ने कहानी में कोई मूल अभिप्राय कहानी से अलग ध्वनित होता हुआ नहीं रखा, इनमें तो कहानी की कहानी ही मूल अभिप्राय है। तीन चरित्र की लेखक को दोख पड़े हैं वे चरित्र उसे स्वयं में अद्भुत प्रतीत हुए हैं, उनका ही सफल चित्रण उसने कर दिया है, और जो चरित्र चारित्रिक होगा - जिसमें चरित्रत्व प्रधान होगा वह स्वयं आदर्श रूप हो जायगा। उस आदर्श की स्वयं अभिव्यक्ति और स्वयं पूर्णता उस चरित्र में होती है।

चरित्र और आदर्श समवायी हो जाते हैं। कहानी मानो चरित्र के रूप में आदर्श की व्याख्या हो जाती है। बस इसा युक्त के आधार पर ये कहानियाँ इस वर्ग में सम्मिलित की गई हैं। सभी धुन के पक्के हैं, वह धुन उनकी जीवन की पर्याय हो गई है। उसके लिए ही वे जीते हैं, उसके लिए ही मरते हैं, बस "कजा-की" को एक बालक से प्रेम है, वह प्रेम ही उसके जीवन का

चरित्र-चित्रण तो सभी कहानियों में मिलता है, बिना इसके तो कहानी, कहानी नहीं कहला सकती, किस्सा बन जायगी, जो साहित्य में मूल्य खो बैठेंगी। किन्तु कुछ कहानियाँ चारित्रिक होती हैं, चारित्रिक वे कहानियाँ हैं, जिनमें विशेष स्वभाव के चरित्रों का उल्लेख हो, जिनमें ऐसे चरित्र की प्रधानता हो, जो किसी एक मनोवस्था को इतनी प्रधानता दे कि बस वही उसका जीवन हो जाय-ऐसा कि वह उसकी धुन का रूप ग्रहण कर ले।

संबल है। उसका जीवन उस बालक के लिए ही है। बौद्ध ने जन-सेवा को अपनी धुन बना रक्खा है। उसके सभी व्यवहार संसार के पुराने स्वर्गदों और कुशल व्यवसायियों को उल्टे और मूर्खतापूर्ण लगते हैं, पर वह लगा है उसी धुन में। चिन्ता नहीं कितना ही कोई उससे रुष्ट हो, कितना ही कोई उससे असन्तुष्ट। कितनी ही कोई उसकी बदनामी करे, और मूर्ख बना कर हंसी उड़ावे। 'स्मृति के पुजारी' के नायक पत्नी प्रेम में पागल है। वह मर गई है। उसके गुण-गान और स्मृति को अपने जीवन का उन्होंने आधार बना रक्खा है। ऐसे विचित्र चरित्र इस वर्ग में ही आ सकते हैं।

पाँचवाँ वर्ग 'पतनोत्थान' सम्बन्धी है। 'पतन' के सम्बन्ध में कुछ प्रकाश ऊपर कहीं डाला जा चुका है। इन कहानियों में पतन से उत्थान दिखाया गया है। इसमें चार कहानियाँ हैं: 'पूर्व संस्कार,' 'पशु से मनुष्य,' 'मुक्ति मार्ग,' 'बेटी का धन'। 'पूर्व-संस्कार' में शिवटहल के पतन का उल्लेख है, 'संस्कार' अथवा कर्म-सिद्धान्त पर इसमें कहानी को चलाया गया है। पुनर्जन्म और पाप का प्रायश्चित्त जैसी संस्कार सम्बन्धी बातों का इसमें समावेश है। रामटहल तो पतन में डूबे हुए हैं, पर उनको अपना पतन, पतन नहीं प्रतीत होता, शिवटहल को अपने पतन के कारण प्रायश्चित्त करने के लिये जो थोड़े समय के लिए गाय के बछड़े का जन्म लेना पड़ता है, यह बात रामटहल को उसका पतन भी समझा देती है और उसका उत्थान भी कर देती है। 'पशु से मनुष्य' और 'मुक्ति मार्ग' कहानियों में नैतिक-पतन और उत्थान का उल्लेख है, माली पहले चोरी करता है, फिर परिस्थितियों के प्रभाव से उसमें उस बुरी आदत

॥ इस कहानी पर ऊपर जो विचार दिया गया है उसे भी ध्यान में रखना चाहिए।

का नितान्त अभाव हो जाता है। 'मुक्ति मार्ग' में धन मद से क्रिमान और गड़गिया पतन हो जाते हैं। धन शून्य हो जाने पर वे अपने उत्थान का मार्ग देखते हैं पतन से तो अवश्य ही मुक्त हो जाते हैं। चौथी कहानी 'बेटी का धन' है, इस कहानी में गार्हस्थिक पतन दिखाया गया है, गृह के स्वास्थ्य-सूत्र ढीले हो गये हैं, वृद्ध पिता के पुत्र अपनी ढपली बजाने में मस्त हैं। कुछ चिन्ता नहीं पिता के दुःख की। बेटी अपने गहने पिता के उद्धार को देती है। पिता मन में समझता है कि यह पाप है, पर विवश है, पतन हो चुका है गृहस्थ धर्म का। उसका उत्थान होता है महाजन की सामयिक उदारता से। इसमें जिस पतन का उल्लेख है, वह गृहस्थ-सम्बन्धी है, व्यक्ति सम्बन्धी नहीं। अतः इसका स्वभाव इस वर्ग की अन्य कहानियों से भिन्न है, इसीलिए इसमें स्पष्ट पतन और उत्थान की रेखाएँ नहीं उभरती, वस्तुतः जो बात दिखाई गई है, वह उत्थान न होकर उद्धार अथवा उबारना ही है, पर उबारना भी उत्थान का एक रूप माना जाना चाहिए, गिरते हुए को यदि कोई दूसरा सहारा देकर उबार ले, तो वह उबारना उसको पतन से निकाल कर उत्थान कर देने के बराबर है। इसीलिए यह कहानी उस वर्ग में रक्खी गई है।

अंतिम वर्ग है 'वीर चरित्र' सम्बन्धी। वीरता एक विशद अर्थवाला शब्द है। विशद अर्थ में ही उसे यहाँ ग्रहण किया गया है। 'आदर्श-जग' वाली कहानियाँ ने आदर्श की रूप रेखा बनती दीखती हैं, उसके लिए त्याग और वीरता सहायक हैं। इन कहानियों में वीरता का भाव प्रधान है। हृदय में वीरता के गुण को उभार में लाने के लिए ये कहानियाँ लिखी गई हैं। आदर्शों का जहाँ समावेश है, वहाँ वह गौण स्थान ही रखता है। 'राज्य-भक्त' में व्यक्ति को वीरता राजा की भक्ति का रूप ग्रहण कर प्रकट हुई है, जिस राजा ने अन्याय से उसे कैद में डाल रखा है,

उसी राजा की रक्षा के लिए कैद से छूट कठिन अवसर पर वह आड़े आता है। 'स्वत्व-रक्षा' में घाड़े की वीरता का उल्लेख है। वह रविवार की छुट्टी मनायेगा ही। उसे क्रिता तांसा गया पर उस दिन तो सवारा देता उसने स्वीकार किया ही नहीं। 'परीक्षा' में भक्ति के लिए आए हुए एक उम्मीदवार की महदयतापूर्ण वीरता का उल्लेख है, कैसे उसने थकान से चूर होते हुए भी एक भरी गाड़ी उठवाने में दुखी किसान की सहायता की ! 'जुगनू की चमक' में 'नैपाल' के राजपूत राजाओं ने कैसे पंजाब की भागी हुई रानी को आश्रय देने का वीरता और साहस का कार्य किया। भय को त्याग ही दिया। 'दफ्तरी' कहानी में गृहवीर का चरित्राकन हुआ है। इसके अन्त में प्रेमचन्दजी ने जो टिप्पणी दी है, वह बतलाती है कि दफ्तरी को क्यों वीर चरित्र मानता होगा। वे लिखते हैं: "गृहदाह में जलने वाले वीर रणक्षेत्र के वीरों से कम महत्वशाली नहीं होते"। यह कहानी लेखन में कुछ चारित्रिक कहानियों की कोटि से मिलती जुलती लगती है। यह समानता ऊपरी ही है, चारित्रिक कहानियों में जो 'धुन' होती है, वह अन्तर प्रेरणा की भाँति होती है, वह चरित्र की अपनी प्रवृत्ति (Integral Tendency) होती है, चरित्र का आवश्यक अङ्ग। उसे करते जाने में उल्लाम है।

इस कहानीमें वह अन्तर्प्रेरणा नहीं, परिस्थितियों ने जो उपस्थित किया, उसे ग्रहण कर उनके विरोध को और अत्याचार को धैर्य और साहस से सहना वीरता है, 'चारित्रिकता नहीं'। इसमें विवशता है, स्फूर्ति नहीं। इस भेद से 'दफ्तरी' 'आदर्श-रक्षा' वाली कहानियों में नष्टा गिनी जायगी। जिस दुःखद भाव की छाया कहानी में मिलती है, और जो हमें प्रभावित भी करती है, यदि उनी को ध्यान में रखा जाता तो कहानी सतालेश्व वर्ग में नहीं

❁ चारित्रिक कहानियों का उल्लेख ३२ में हुआ है।

रखी जा सकती, इसमें तय्यार है। किन्तु मूल अभिप्राय में वीरता की उज्ज्वलता है, जो दुखद छाया को पीछे कर देती है, इसी से यह कहानी 'सतालेख्य' में सम्मिलित की गई है।

यहाँ तक 'अ-स्त्री प्रधान' कहानियों का विवरण दिया गया है। इस वर्गीकरण से यह विदिति होगी कि कहानीकार ने ऐसे संकुचित क्षेत्र में कितनी विविधता और वैचित्र्य का उपयोग किया है। विविध कथानकों में कितने विविध उद्देश्य और अर्थ का समावेश करने का उद्योग उसने किया है।

यहीं उन कहानियों का भी परिचय प्राप्त कर लेना ठीक होगा, जो 'स्त्री-प्रधान' हैं, ऐसी कहानियाँ तो सम्भवतः न के बराबर हैं, जिसमें केवल स्त्री-मात्र पात्र हों, जिनमें पुरुषजाति का उल्लेख न हो। 'लाञ्छन' नाम की कहानी अवश्य ऐसी है, इसमें मूलतः किसी पुरुष को नहीं आने दिया। एक स्त्री से ही पुरुष का रूपक भरवाया गया है। शेष कहानियाँ, प्रायः ३१ हैं जिनमें स्त्रियाँ प्रधान हैं, पुरुषमात्र गौण हैं और अप्रधान होकर ही सहायक हैं। उन कहानियों का वर्गीकरण इस भाँति कर सकते हैं।

स्त्री-प्रधान—१ विधवास्त्री—(अ) आदर्श प्रधान—१ राज-नीतिक; माँ; २ दाम्पत्य; अन्तिमशान्ति ३ गृहसेवा: सुभागी (आ) अवस्था चित्रण—१ माता सम्बन्धी: बेटों वाली विधवा; २ गृहसेवा: स्वामिनी, ३ लालसा: ज्योति, (इ) स्वभाव चित्रण—नैराशयलीला।

२ विवाहिता—(अ) दाम्पत्य—१ पति प्राप्ति: शिकार; २ प्रेम-ऊष्मा की चाह: अभिलाषा; ३ सभ्यता भेद: दो सखियाँ; ४ पति कल्याण की आतुरता: अनिष्ट शंका; ५ आभूषण-प्रियता: दो बहनें, आभूषण;

(आ) नारीत्व—१ पति की धनलिप्सा पर-कुसुम; २ वृद्ध पति के हाथों: नरक का मार्ग; ३ वेश्या में: दो कर्त्रे + ४ आदर्श-भक्तियुक्त

सती. रानी सारन्ध्रा : ५ लांछितः लांछनः ६—कुरूप पतिपरः

सती (६५)

(इ)—राजनीतिकः सुहाग की साड़ी +

(ई)—गार्हस्थिकः गृहनीति +

(उ)—मातृत्वः माता का हृदय, मन्दिर (अच्छूत)

(ऊ)—प्रेम—१ वैश्यकाः वेश्या + २ स्वतन्त्रः मिस पद्मा ।

(ए)—विमाताः गृहदाह ।

(ऐ)—स्वभाव-चित्रणः जुमाना, बूढ़ी काकी ।

(ओ)—अविवाहित नारीत्वः विस्मृति +

(औ)—चरित्र वैचित्र्य—दिल की रानी +

ये कहानियाँ १० वर्गों में विभाजित की गई हैं। पहला वर्ग उन कहानियों का है, जिनमें विधवा स्त्री को मुख्य आधार बनाया गया है। ऐसी कहानियाँ तीन प्रकार की मिलती हैं, एक तो उन विधवाओं को हैं जो अपने जीवन में किसी न किसी प्रकार के आदर्श को ठेक बनाये हुए हैं। 'माँ' ने पति के राजनैतिक आदर्श को अपनी आन की भाँति पकड़ लिया है। पर वह विफल होती है। उसका पुत्र उसके सारे परिश्रम को, उसके साथ उसके वैयक्तिक की सम्पूर्ण साध को विफल कर देता है। 'अन्तिम शान्ति' में विधवा माँ पति की मर्यादा के साथ, पुत्री के दाम्पत्य-जीवन में नारीत्व के स्वाभिमान की रक्षा का भाव उपस्थित करती है। 'सुभागी' ने विधवा होकर यही सिद्ध किया है कि पुत्र से पुत्री कहीं अधिक सुपात्री हो सकती है, पुत्र ने ही बुढ़ापे का सहारा और अन्धे की लकड़ी होने का ठेका नहीं ले लिया है। दूसरी कहानियों में विधवाओं की अवस्था का—परिस्थितियों में परिवर्तन हो जाने से इसकी स्थिति और सम्मान में जो अन्तर उपस्थित हो जाता है, उसका चित्र दिया गया है। 'बेटों वाली विधवा में

माँ का कानून से अधिकार और स्वार्थी पुत्रों द्वारा अपमान का तन्त्र-चित्र है। 'विधवा बधू गृह' का स्वामित्व संभाल कर कैसे अपने वैधव्य को भेलत लेती है, यह 'स्वामिनी' कहानी में है। पुत्रों के कारण जो माँ विधवा हो जाने पर दूसरे पति न कर सकी, उसकी अतृप्त लालसा पुत्र की रसिकता में कैसे आनन्द पा सकती है, यह 'ज्योति' का विषय है। तीसरी प्रकार की कहानियाँ वे कही जायेंगी, जो स्वभाव की किसी विशेषता पर जोर दें, जिनमें अवस्था के अन्तर की अपनी प्रधानता न हो, जितना स्वभाव के विशिष्ट गुण को प्रकाश में लाना। ऐसी एक कहानी है : 'नैराश्य लीला'। बाल-विधवा निराश हृदय कैसे तिनके को सहारा बताये जाने पर उसी को दृढ़ता से पकड़ने और उसी को सब कुछ समझने दौड़ता है—इसी का दुःखद चित्रण 'नैराश्य लीला' में है।

दूसरे वर्ग में 'विवाहित स्त्रियों' को आधार की भाँति लिया गया है। विवाहित स्त्रियाँ की कहानियाँ दो भागों में बाँटी जा सकती हैं, पहला भाग है 'दाम्पत्य सम्बन्धी', पति-पत्नी के पारस्परिक सम्बन्ध जिसमें उपयोग में लाये गये हों। इस भाग में पाँच प्रकार के सम्बन्धों की कल्पना है। पहली कल्पना में पति-पत्नी की रुचियों में साम्य न होने से पत्नी उपेक्षित रहती है। फिर पत्नी पति की रुचि के अनुकूल बन जाती है। सहधर्मिणी से वह सहगामिनी हो जाती है। यह 'शिकार' में है। दूसरी कल्पना में विवाहित स्त्री विफल प्रेम में किसी अभाव का अनुभव करती है। वह प्रेम में स्थायी सान्त्विकता को पति की उपेक्षा समझ बैठती है। वह वही ऊष्मा चाहती है जो प्रेमी प्रेमिका में, प्रेम के सज्ज बाग और सुनहले स्वप्न देखने में, मिलती है। यह 'अभिलाषा' में है। तीसरी प्रकार की कहानी का आधार अभा-रतीय—प्राश्नात्य सभ्यतानु रूप दाम्पत्य जीवन का भेद है। 'दो

संख्यायें' पढ़ी-लिखी पर भिन्न समस्याओं को चाहने वाली हैं। उन्हीं के अनुसार उनका जीवन ठला है। दोनों जीवनों की सुन्दरता-असुन्दरता प्रकट होती है। चौथे प्रकार की कहानी एक विवाहित स्त्री के स्वभाव की एक विशेषता का चित्र उपस्थित करती है। इस कहानी में स्त्री के आधार पर मनोवस्था का एक चित्र है। मनोवस्था का एक विशेष रूप है। स्त्री अपने पति के प्रेमातरेक और कल्याण-आतुरता से भाव-भ्रम (Hallucinations) में गिरफ्त हो जाती है। 'अनिष्ट शंका' में ग्रस्त हो, रेल से कूद कर अपने प्राण त्याग देती है। पाँचवें भाग में आभूषण-लालसा से दाम्पत्य जीवन में जो वैषम्य उपस्थित होता है, वह दिखाया गया है। 'दो बहिनें' और 'आभूषण' ये दो कहानियाँ इस विभाग में आती हैं।

विवाहित स्त्रियों की कहानियाँ में दूसरा भाग वह है जिनमें स्त्री के नारीत्व को किसी न किसी रूप में कहानी का दृष्टि-बिन्दु बनाया गया है। विवाह हो जाने पर पत्नी अपना सर्वस्व उसे समर्पण कर रही है। पति पत्नी की उपेक्षा करता है, क्योंकि स्वसुर ने उसे वाञ्छित धन नहीं दिया। जब यह रहस्य पत्नी पर खुलता है, वह पति से विद्रोह कर बैठती है। वह उससे उपेक्षित हो स्वतंत्र ही जीवन यापन करना चाहती है। धन से वह अपने नारीत्व का विनिमय नहीं कर सकती। यह 'कुसुम' है। पति वृद्ध है और नवयौवना पत्नी के शृंगार और आमोद की भर्त्सना करता है। उसका नारीत्व यों अवहेलित क्यों हो ? वह विद्रोह कर कुपथ पर चल पड़ती है। नारीत्व विचलित हो उठता है, यही 'नरक का मार्ग है।' विवाह कर लिया वेश्या की सती पुत्री से, तो हृदय में वेश्यावृत्ति के प्रति कुछ भी र्त्तान बनाने रखता अथवा समाज के प्रति भीरु बन जाना अक्षम्य है। सार्वभौम इस अपमान को नहीं सह सकता—वह अपने को इस ग्लानि से बचाने के लिए मिट जायगा। 'दो कठें' इसीलिए

हैं। फिर उन आदर्श स्त्रियों का नारीत्व है, जिन्होंने 'पति' के पुरुष को नहीं बरा, उनमें प्रदीप्त होने वाले आदर्श का वर्णन किया है। 'सती' इसलिये चिता पर चढ़ जाती है, कि उसके पति का शरीर भते ही क्षण में हो, उसका वह शौर्य जिसका वह पति बनाये हुए थी, वहाँ उस शरीर-मन्दिर में से ढह गया है। 'मारन्धा' भी ऐसे ही आदर्श के लिए दीन होते हुए भी पति को अपने हाथों छुरा भोंकती है, और स्वयं भी धूरिसान् हो जाती है। और, जिस स्त्री पर प्रतिक्षण सन्देह किया जाय, पति द्वारा उसका लाञ्छित नारीत्व गुण्डों की सहृदयता से उनके चंगुल में स्वयं चला जाय, तो क्या वह अस्वाभाविक होगा ? 'लाञ्छन' कहानी इसीलिए अपने नाम के अनुरूप है। अब एक प्रश्न ऐसा भी हो सकता है कि सुन्दरी स्त्री कुरूप पुरुष की स्त्री हो जाय, और पति की कुरूपता से उत्पन्न होने वाले किसी अभाव का स्मरण दिला कर कोई मरूप उसे अपनी ओर आकर्षित करे, वह अपने सतीत्व को क्या केवल रूप के लिए छोड़ दे ? वह भी 'सती' है।

शेष आठ विभेद इतने वैज्ञानिक नहीं, 'राजनैतिक' विभेद में 'सुहाग की साड़ी' आती है। पति की सिद्धान्त-रक्षा के लिए सुहाग की साड़ी जलने दे दी जाती है, उससे अनेकों गरीब स्त्रियों के सौभाग्य की रक्षा होती है। 'गार्हस्थिक' में माता और पत्नी के व्यवहार-मालिन्य को दूर करनेकी कहानी 'गृहनीति' में रक्खी गई है। इसमें यद्यपि पुरुष का कौशल भी है, पर उसे माता और पत्नी के स्वभाव को मिलाने के लिए साधन की भाँति माना है, अतः स्त्री-प्रधान कहानी में इसे रखा है। पुरुष कौशल को प्रधानता देने से यह कहानी इस वर्गीकरण में स्थान नहीं पा सकती। 'मातृत्व' की कहानियों में माता का हृदय और 'मंदिर' है। माता का पुत्र जज ने जेल भिजवा दिया, वह उसके प्रतिकार के लिए जज के यहाँ धाय बनती है, पर उसके पास जो माता

का हृदय है, वह उसकी प्रतिकार भावना को परास्त कर देता है। 'मन्दिर' में अछूत भा पुत्र कल्याण के लिए मन्दिर के भक्तों से कितनी पीड़ा और कष्ट नहीं पाती, पर उसका भ्रातृ-हृदय वह भेलने को प्रस्तुत होता है। छठा वर्ग 'प्रेम' के प्रश्न को सामने रखने वाली कहानियों का है। एक 'प्रेम' वेश्या का है। 'वैश्या' भी प्रेम कर सकती है, और प्रेम की पवित्रता पाकर उस पर सर्वस्व निश्चाय कर सकती है, उसका प्रिय उसे चाहे वैसे ग्रहण न करे। स्वतन्त्र-प्रेम के पुजारियों का, प्रेम मिलन का क्या दाम्पत्य जीवन के लिए कोई अर्थ हो सकता है, यह 'मिस पद्मा' में है। 'विभाता' की कहानी में 'गृह-दाह' आता है। कुछ ऐसी कहानियाँ हैं, जिनमें स्वभाव का चित्रण ही अभिप्रेत है, 'जुरमाना' और 'बूढ़ी काकी' में स्वभाव की झोंकी कराई गई है। "विस्मृति" अविवहित नारीत्व को लेकर लिखी गई है, बहिन अपने प्रेमी के घातक भाइयों के विरुद्ध गवाही दे, लालच्युत कौमार्य और कुल मर्यादा के लिए अपने नारीत्व को लम्बी अवधि तक एकान्त बीहड़ में तपस्या की अग्नि में तपा डालती है। अन्तिम वर्ग में 'दिल की रानी' नाम की कहानी है। यह स्त्री 'चरित्र-वैचित्र्य' को लक्ष्य करता है, और इस स्त्रीत्व का प्रभाव पुरुष पर पुरुषत्व से भी अधिक गहरा पड़ता है। —यही वैचित्र्य इस कहानी में है।

अब तक कहानियों का जो वर्गीकरण दिया गया है, उससे यह धारणा न होनी चाहिए कि शेष कहानियों का भण्डार पुरुष और स्त्रियों से भिन्न किसी और जाति के प्राणियों को पात्र कल्पित किए हुए हैं, ऊपर यह बात स्पष्ट की जा चुकी है कि इस वर्गीकरण में केवल प्रधानता मात्र को स्थान दिया गया है। जिनमें स्त्रियों का बहुत अधिक अभाव दृष्टिगोचर होता था, अथवा स्त्रियों का प्रधान भाव प्रतीत होता था उन्हीं को पहले

छाँट लिया गया है, अब प्रेमचन्दजी की लगभग २०० कहानियों का बर्गीकरण यहाँ किया जायगा। इस वर्गीकरण में उपरोक्त सभी कहानियाँ सम्मिलित होंगी।

वर्गीकरण नीचे दिया हुआ है।

१ स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध वाली कहानियाँ—

१ प्रेम-सम्बन्धी—

१-प्रेम के लिये सेवा 'ज्योति'

२-साहस और योग्यता से प्रेम की उत्पत्ति 'दिल की रानी'

३-जहाँ स्त्री प्रेम को गम्भीरता पूर्वक ग्रहण करती; पुरुष अन्यथा 'कायर'

४-अपने प्रिय की यथार्थ मंगिन बन के स्त्री जहाँ प्रेम प्राप्त करती है 'शिकार'

५-प्रेम मनुष्य को चरित्र में गम्भीर बना देता है; 'घासवाली'

६-प्रेम स्त्री को पवित्र बना देता है, 'वेश्या'

७-प्रेम और विश्वासघात, 'कैदी'

८-स्वतन्त्र प्रेम: पाश्चात्य प्रणाली का, 'मिस पद्मा'

९-प्रेम तथा प्रेम के विषय की स्थानापन्नता 'विद्रोही'

१०-भारतीय तथा पाश्चात्य प्रेम: 'उन्माद'

११-बालों से मोहित होने वाली कुमारियाँ: 'जादू'

१२-विश्वास से प्रेम की प्राप्ति—'विश्वास'

१३-प्रेम का राज्य—'लैला'

१४-भाग्य द्वारा प्रेम की सहायता: 'सौभाग्य के कोड़े'

१५-प्रेम-मत्त का बेबकूफ बनाना—विनोद

१६-रोमाँस की चाह—अभिलाषा

१७-आगा-पीछा

१८-प्रेम के लिये संकट तक का आवाहन—प्रेम का उद्घ

१६-सती

२०-सेवाव्रती को स्त्री का प्रेम न ढिगा सका—'रहस्य'

२१-स्मृति का पुजारी

२२-दो सखियाँ

२३-स्त्री का प्रेम के प्रति विश्वासघात. मनुष्य का दंड चाह,
स्वतन्त्र तथा प्रेम: 'धर्म-संकट'

२४-प्रेम की अपेक्षा सेवा: 'सेवा-मार्ग'

२५-रोमांस के साथ प्रेम: कामनावस,

२६-कुल मर्यादा के लिये विवाह और प्रेम: मर्यादा की बेदी

२७-सती (२)

२८-तथ्य

२९-आहुति

३०-रानी सारन्धा

३१-विस्मृति

३२-हार की जीत

३३-पाप का अग्निकुण्ड

३४-Form पर निर्भर प्रेम: धोखा

२—विवाह सम्बन्धी—

१—पति-पत्नी : जहाँ चरित्र सम्बन्धित हैं : 'अन्तिम शान्ति'
[मानसरोवर में इसका नाम 'शान्ति' है]

२—विधवा-विवाह : धिक्कार, बालक ।

३—अन्तर्जातीय विवाह : कायर ।

४—वृद्ध विवाह—नरक का मार्ग ।

३—वेश्या-सम्बन्धी—वेश्या, दो क्रत्रें, आगा पीछा ।

४—सतीत्व—आधार, सती ।

५—पुरुष को जीतने वाली स्त्री-सम्बन्धी—शिकार, स्वर्ग की
देवी, दो सखियाँ, हार की जीत ।

- ६—स्त्री को जीतने वाला पुरुष सम्बन्धी—आहुति, हार की जीत, विश्वास ।
- ७—स्त्री को खोने वाला पुरुष-सम्बन्धी—लांछन ।
- ८—स्त्री और पुरुष के सम्बन्ध सम्बन्धी—जीवन का शाप, स्त्री और पुरुष, निर्वासन ।
- ९—पुरुष से प्रबल स्त्री—‘दिल की रानी’ ।
- १०—रसिकता सम्बन्धी—घासवाली, रसिक सम्पादक, जादू, दरोगाजी ।
- २—संसार में व्यस्त जानव से सम्बन्धित कहानियाँ
- १—दैव और आत्मा-सम्बन्धी—बासी माल में खुदा का साभा, डामुल का कैदी, ब्रह्म का स्वाँग ।
- २—धर्म—न्याय, मुक्तिधन, क्षमा, सद्गति, दुर्गा का मन्दिर, आत्माराम, खून सफेद ।
- ३—पद-अधिकार-सम्बन्धी—
- १—तत्सम्बन्धी नीति और उत्तरदायित्व—
- १—अभिभावक—‘बड़े भाई साहब’ ।
- २—जन-सेवा, सरकारी पद—१ दण्ड, २ सभ्यता का रहस्य, ३ समस्या, ४ जुरमाना, ५ पछतावा, ६ सज्जन तथा दण्ड ।
- ३—अध्यापक—१ प्रेरणा, २ बोध ।
- २—उसके कारण मानव-स्वभाव में परिवर्तन—१ गुली-डण्डा, २ ईश्वरीय-न्याय, ३ पशु से मनुष्य, ४ पंच-परमेश्वर ।
- ४—सामाजिक—
- १ समाज बहिष्कार—‘बहिष्कार’
- २ पंडा-साधु समस्या—१ मनुष्य का परमधर्म, २ गुरु मन्त्र, ३ बालाजी का भोग ।

३ सामाजिक रीति-रिवाज,—१ सद्गति, २ दो कब्रें, ३ खून सफेद ।

४ पत्नी-त्याग—१ भटकने के कारण—‘निर्वासन’
२ रुपये की चाह से—‘कुसुम’, दहेज

५ अबूत—१ ठाकुर का कुँआ, २ दूध का दाम, ३ सद्गति,
४ मन्दिर ।

६ विधवा-समस्या—१ धिक्कार, २ बालक

७ मृतक-भोज—‘मृतक-भोज’

८ अंध-विश्वास-विरोध—१ सुभागी, २ तेंतर, ३ भूत,
४ सुहाग की साड़ी ।

९ असमान सम्बन्ध—१ नरक का मार्ग, २ भूत

५—राजनीति—

१ नशा, २ अनुभव, ३ ताबान, ४ विचित्र होली, ५ सत्याग्रह,
६ भाड़े का टट्टू, ७ होली का उपहार, ८ पण्डित मोटेराम
शास्त्री, ९ सुहाग की साड़ी,

६—घर—१ पारस्परिक सम्बन्ध स्रोतक :—

१ गार्हस्थ्य सम्बन्धी :—१ सानकी गुणों पर निर्भर—
१ गृहदाह, २ महातीर्थ, ३ संश्रनाद ।

२ अवस्था की दुर्बलता—बूढ़ी काकी

३ कमाऊ मनुष्य—चोरी

४ अमानवीय तत्व—तेंतर, नैराश्य

२ साम्प्रतिक सम्बन्ध :—१ बेटोंवाला विधवा, २ घर
जमाई, ३ दो भाई, ४ वैर का अन्त,

३ पति-पत्नी—खुचड़

२ स्त्री का आभूषण प्रेम—‘आभूषण’

३ मनुष्य का घर में भिन्न व्यवहार—‘ब्रह्म का स्वांग’

४ गृह के उत्तरदायित्व की प्रतिक्रिया—स्वामिनी

७—साम्प्रदायिक

१ मन्त्र, २ हिंसा परमोधर्म, ३ खून सफेद, ४ दिल की रानी

८—कृषक—

१ पूस की रात, २ सवासेर गेहूँ

९—नैतिक—

१ रियासत का दीवान, २ विश्वास, ३ उद्धार, ४ परीक्षा,
५ दीक्षा, ६ मुक्ति मार्ग, ७ सभ्यता का रहस्य, ८ समस्या,
९ मांगे की घड़ी, १० दो बहनें ११ दुर्गा का मन्दिर, १२
गरीब की हाथ, १३ सच्चाई का उपहार, १४ रामलीला
१५ मन्त्र, १६ समता ।

१०—नागरिकता—

१ मोटर की छाँटे, २ लाटरी, ३ मांगे की घड़ी, ४ पशु से
मनुष्य ।

११—सभ्यता—

१ धर्म संकट

१२—State (राज्य)—

१ परीक्षा, २ लैला, ३ शिकारी राजकुमार ४ रियासत का
दीवान ।

१३—दरिद्र पर अत्याचार—

१ विध्वंस, २ बेटी का धन, ३ बलिदान ।

१४—जाति सेवक—

१ सत्याग्रह, २ एक आँच की कसर, ३ कानूनी कुमार ।

१५—आभूषण प्रेमी पत्नी—

१ कौशल, २ बहनें, ३ आभूषण ।

१६—मद्य-निषेध—

१ दुस्साहस, २ दीक्षा ।

१७—रसिक—

१ मनुष्य का परम धर्म, २ गुरु मन्त्र, ३ ज्ञानाज्ञा मुक्ती ।

१८—मातृत्व—

१ माता का हृदय ।

१९—मित्र—

१ डिप्री के रुपये, २ भाड़े का टट्टू ।

२०—सम्पत्ति सम्बन्धी—

१ खुदाई फौजदार, २ चमत्कार, ३ सवासेर गेहूँ, ४ गरीब की हाथ, ५ बेटी का धन, ६ अमावस्या की रात्रि, ७ जीवन का शाप ।

२१—पशु सम्बन्धी—

१ दो बैलों की कथा, २ स्वत्व रक्षा, ३ अधिकार चिन्ता

२२—स्वभूमि प्रेम

१ माँ, २ धिक्कार ।

२३—मनुष्य के आदर्श—

१ स्त्री के लिये मनुष्य का शौर्य—१ बहिष्कार, २ राजा हरदौल
२ स्त्री का शौर्य—१ रानी सारंधा, २ सती, ३ मर्यादा की
वेदी, ४ पाप का अग्निकुण्ड ।

३ आदर्श सिद्धान्त के लिये शौर्य—१ आदर्श विरोध,
२ आँसुओं की होली, ३ राजा हरदौल, ४ मृत्यु के पीछे,
४ स्त्री-रक्षा-निमित्त—(Chivalry) १ जुगनु की चमक,
२ धर्म संकट, ३ सती, ४ राजा हरदौल,

५ मान-प्रतिष्ठा—१ विस्मृति, २ लोकमत का सम्मान,

६—राज भक्ति—१ राज्य मञ्च ।

२४—जिनमें चरित्र टाइप के रूप में हैं—१ लौक्य, २ वाक्य,
३ घास वाली, ४ नेचर, ५ शतरंज के खिलाड़ी, ६ बजपात,
७ तगादा,

८ ढपोरशंख, ९ डिमॉस्ट्रेशन, १० स्मृति का पुजारी,
 ११ कफन, १२ लेखक, १३ पंडित मोटेराम शास्त्री (२),
 १४ पं० मोटेराम शास्त्री (३), १५ मूढ़, १६ दफ्तरी,
 १७ बौद्ध, १८ मृत्यु के पीछे, १९ निमन्त्रणा, २० कजाकी,

२५—व्यापार (Phenomena) सम्बन्धी—

१ मानसिक—१ भौंकी, २ कुत्सा, ३ लाटरी, ४ जादू,
 ५ नैराश्य लीला, ६ स्वर्ग की देवी, ७ अभिलाषा, ८ सती,
 ९ जुरमाना, १० अनिष्ट शंका ।
 २ अवसर—१ मुफ्त का यश, २ स्त्री और पुरुष,
 ३ माँ की प्रकृति—१ माता का हृदय, २ समता,
 ४ बालक—१ इंदगाह, २ महातीर्थ, ३ विस्मय, ४ सचचाई
 का उपहार, ५ रामलीला, ६ चोरा,
 ५ भाग्य—१ सौभाग्य के कोड़े, २ प्रारब्ध, ३ बेटों वाली
 विधवा,
 ६ रक्त—आगा पीछा,
 ७ यौन विभेद तथा सौन्दर्य—१ दिल की रानों, २ मनोवृत्ति,
 ८ अति प्राकृतिक तथा अति मानवीय—१ नागपूजा,
 २ गुप्त-धन, ३ बलिदान,
 ९ कर्म-सिद्धान्त—पूर्व संस्कार,
 १० सौन्दर्य—१ स्त्री और पुरुष, २ रहस्य ।

प्रेमचन्दजी की कहानियों में बहुत विविधता है। उपरोक्त वर्गीकरण से केवल किसी कहानी की प्रमुख प्रवृत्तियों का ही पता चलता है। बहुधा प्रेमचन्दजी की कहानियाँ मिश्र हैं। उनमें अभिप्राय की 'इकाई' का अभाव है। एक सूत्र में अनेकों अभिप्रायों का समावेश है। अभिप्राय ही नहीं, दो वस्तुओं का भी समावेश कहीं-कहीं मिलता है। मुख्य सूत्र की सहायता अथवा

मनोवस्था को भूमिका की भाँति भी कितने ही विभिन्न तत्व के काम में लाते रहे हैं, और वह गौण सूत्र प्रमुखता से कुछ ही नीचे रहता मिलता है। वे कहानियाँ जिनमें इकाई मिलती हैं—

ईदगाह, नशा, ठाकुर का कुँआ, बड़े भाई माहव, पूस की रात, भाँकी, आग्विरी होली, गिला, रसिक सम्पादक, मनोवृत्ति, मोटर की छींटे कुत्ता, मुफ्त का यश, गृहनीति, कानूनी कुमार, लाटरी, बाबाजी का भोग, अभिलाषा, खुचड़, प्रेम का उदय, सखी, बोध, चोरी, कफन, लेखक, जुरमाना, बौड़म, आहुति, ब्रह्म का स्वाँग, रफ्तारी, दुस्साहस, रामलीला, पछतावा ।

कुछ कहानियों को छोड़ कर यथा, अधिकार-चिन्ता, दो बैलों की कथा* और 'स्वत्व-रक्षा'। शेष सभी मनुष्यों को लेकर लिखी गई हैं। 'अधिकार चिन्ता' 'दो बैलों की कथा' है और 'स्वत्व-रक्षा' कहानियाँ पशुओं में सम्बन्ध रखती हैं। एक में कुत्ता, दूसरे में बैल, तीसरे में घोड़ा मुख्य पात्र हैं। बैलों की कथा और घोड़ा सतालख्य उदात्त भाव से पूर्ण हैं। 'अधिकार-चिन्ता' में तमालख्य हैं। 'अधिकार चिन्ता' रूपक कथा है।

अन्य कहानियों में हमें विविध रूप में मानव ही चलता फिरता दीखता है। कहीं पर मानव मुख्य है : सारी घटनायें, सारे व्यापार जैसे उसे ही स्पष्ट करने के लिये लाये गए हैं। विश्वास, समाज, राजनीति, परिवार, धर्म, विवाह जैसे मानव केन्द्र के परिभ्रमण-कर्ता उपग्रह मात्र हैं। कहीं मानव प्रमुख ने

* दो बैलों की ऐसी ही कथा शरत बाबू की भी है। अवश्य ही एक ने दूसरे से ली होगी। यह कम सम्भव प्रतीत होता है कि दोनों का कोई एक ही माध्यम हो।

शतरङ्ग के खिलाड़ी होकर उसका एक स्वभाव ही केन्द्र बन गया है। मानव उस स्वभाव अथवा आदर्श में ऐसा विलीन हो गया है कि वहाँ वह एक टाइप बन गया है। एक प्रतिमा मात्र होगयी है। यह आदर्श, यह स्वभाव उसका निजी है—वैयक्तिक है। कहीं मानव इतना गौण होगया है कि किसी समस्या अथवा प्रश्न का स्वयं एक उपग्रह बन गया है। भौकी, एक आँच की कसर, ऐसी कहानियों में मानव के अनुकूल घटनायें और समस्याएँ नहीं चलीं। मानव को उनके अनुकूल ढाला गया है। मानव का स्वभाव और उसकी स्वाभाविक गति किसी समस्या को प्रकट करने के लिये विकृत कर दी गई है।

प्रेमचन्द जी ने सन् ३०—३६ के बीच की लिखी अपनी कहानियों का संग्रह “मानसरोवर” के नाम से प्रकाशित करते समय प्राक्कथन में लिखा है :

‘पाठकों से यह कहने की जरूरत नहीं है कि इन थोड़े ही दिनों में हिन्दी गल्प कला ने कितनी प्रौढ़ता प्राप्त कर ली है। पहले हमारे सामने केवल बंगला कहानियों का नमूना था। अब संसार के सभी प्रमुख गल्प लेखकों की रचनाएँ पढ़ते हैं। उन पर विचार और बहस करते हैं, उनके गुण-दोष निकालते हैं, और उनसे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकते। अब हिन्दी गल्प लेखकों में विषय और दृष्टिकोण और शैली का अलग-अलग विकास होने लगा है। कहानी जीवनके बहुत निकट आ गई है।’

इसमें सन्देह नहीं कि कहानी-कला में हिन्दी में बहुत थोड़े समय में बहुत विकास हुआ और यह सम्भव नहीं कि प्रेमचन्द जैसा चैतन्य लेखक उस विकास में सहायक न बने। उसमें भी विकास-क्रम की सीढ़ियाँ मिलनी चाहिये। प्रेमचन्दजी का कहना है कि उपन्यासों की भाँति कहानियाँ भी कुछ घटना-प्रधान होती हैं, कुछ चरित्र-प्रधान। चरित्र-प्रधान कहानी का पद ऊँचा

समझा जाता है। मगर कहानी में बहुत विस्तृत विवेचन की गुंजायश नहीं होती। प्रेमचन्दजी ने कहानियों के दो छोटे विभाग किये : १—घटना प्रधान, २—चरित्र-प्रधान, और वैज्ञानिक-दृष्टि से देखने पर इसमें कोई सन्देह नहीं किया जा सकता कि घटना से चरित्र की ओर ही विकास का मार्ग है। कहानी किस प्रकार लिखित होकर आज प्रायः एक रूप में भिन्न होगई है, यह बात भी आलोचक प्रेमचन्द ने यों बताई है—

“उसकी जमीन अब लम्बी-चौड़ी नहीं है। उसमें कई रसों, कई चरित्रों, और कई घटनाओं के लिए स्थान नहीं रहा। वह अब केवल एक प्रसंग का, प्राप्ति की एक शलक का, सजीव स्पर्शी चित्रण है। इस एकता-भ्यता ने उसमें प्रभाव, आकस्मिकता और तीव्रता भरी है। अब उसमें व्याख्या का अंश अधिक रहता है। उसकी शैली भी अब प्रवाहमयी होगई है। लेखक को जो कुछ कहना है, वह कम से कम शब्दों में कह डालना चाहता है। वह अपने चरित्रों के मनोभावों की व्याख्या करने नहीं बैठता; केवल उसकी तरफ इशारा कर देता है। कभी-कभी तो संभाषणों में एक दो शब्दों से ही काम निकाल लेता है। ऐसे कितने ही अवसर होते हैं, जब पात्र के मुँह से एक शब्द सुनकर हम उसके मनोभावों का पूरा अनुमान कर लेते हैं, पूरा वाक्य की जरूरत ही नहीं रहती। अब हम कहानी का मूल्य उसके घटना-विकास से नहीं लगाते। हम चाहते हैं कि पात्रों की मनोगति स्वयं घटनाओं की सृष्टि करे, घटनाओं का स्वतन्त्र कोई महत्व नहीं रहा, ... खुलासा यह कि गल्प का आधार अब घटना नहीं, मनोविज्ञान की अनुभूति है। आज लेखक केवल कोई रोचक दृश्य देख कर कहानी लिखने नहीं बैठ जाता। उसका उद्देश्य स्थूल सौन्दर्य नहीं है। वह तो कोई ऐसी प्रेरणा चाहता है, जिसमें सौन्दर्य की शलक हो, जिसके द्वारा वह

पाठक की सुन्दर भावनाओं को स्पर्श कर सके ।” इसमें प्रेमचन्द ने कहानी की दो अवस्थाओं का अन्तर स्पष्ट कर दिया है ।

पहली अवस्था में हिन्दी में १—कहानी की जमीन लम्बी-चौड़ी होती थी २—उसमें कई रस, कई चरित्र, कई घटनाओं का समावेश रहता था । ३—उसमें व्याख्या का अंश अधिक, समवेदना का कम रहता था, ४—शैली उनकी प्रवाहमयी नहीं होती थी । उसे अधिक शब्दों की आवश्यकता होती थी । ५—चरित्रों के मनोभावों की उसे ज्याग्या करनी पड़ती थी । ६—कहानी का मूल्य घटना-विन्यास से आँका जाता था, और घटनाओं का स्वतन्त्र मूल्य था । तब कहानी रोचक दृश्य देखकर स्थल सौन्दर्य के लिये भी लिख दी जाती थी ।

दूसरी अवस्था में इस स्थूलता का अभाव होता गया और कहानी में एकतथ्यता, सूक्ष्मता और व्यंग आता चला गया है । मनोगति प्रधान हो गई है ।

प्रेमचन्द के कथान के इस खवेचन से घटना-प्रधान और चरित्र-प्रधान कहानियों के पास्परिक सम्बन्ध का ज्ञान अवश्य होता है । पर यह वर्गीकरण बहुत मोटा है । घटना-प्रधान से अभिप्राय यदि कथानक से है—प्लॉट संयुक्तता से है, तो वर्गीकरण वैज्ञानिक नहीं माना जा सकता, क्योंकि चरित्र-प्रधान कहानियाँ सभी कथानक शून्य नहीं हो सकती । और न कथानक शून्य (Plotless) कहानियाँ सभी चरित्र-प्रधान कही जा सकती हैं । घटना से अभिप्राय यदि भूत-जगत में घटित होने वाला स्थल घटना-चक्र से है, तो कहानियाँ ऐसी भी हैं, जिनमें घटना भी नहीं और चरित्र भी नहीं । ऐसी कहानियों में समस्योद्घाटन, अवस्था-दिग्दर्शन, वाक्-कौशल अथवा प्रभाव-विन्यास रह सकता है । न तो इनमें से किसी में चरित्र की प्रधानता होती है, न घटना की । उदाहरणार्थ प्रेमचन्द की

कहानी 'कुत्सा' ली जाय, यह कथानक शून्य ही कही जायगी। एक अबोध बालिका के सामने झूठ बोल कर भी यदि उसके हृदय में पवित्रता रखी जा सकती है तो ठीक है—यही आचरण का सत्य इस कहानी का मुख्य विषय है, और इसमें कहने के लिए न कोई प्लॉट है और न कोई घटना ही। किसी पात्र का सुसंबद्ध चरित्र अथवा चरित्रांश भी सामने नहीं आता। इस दृष्टि से यह कहानी न चरित्र-प्रधान, न घटना-प्रधान, तो घटना और चरित्र के अतिरिक्त एक और तत्व भी कहानी में मिलता है—वह है जो चरित्र और घटना से शेष रह जाता है, इसको कोई एक नाम देना सहज नहीं। जैसा ऊपर बताया गया है। इसमें वे सब कहानियाँ जिनमें कोई समस्या, अथवा वाक् कौशल (wit) या स्वभाव-चित्रण हो आयेगी अतः इन्हें हम व्यवस्था-प्रधान कहानी कह सकेंगे। तो प्रेमचन्दजी ने हम इस वर्गीकरण के अनुसार निम्नलिखित तारतम्य पाते हैं।

१—घटना-प्रधान—वे कहानियाँ जिनमें औत्सुक्य, आश्चर्य, विस्मय प्रधान हैं। कथानक में पात्रों के चरित्र में अस्वाभाविकता को बचाने हुए जहाँ कथानक में ही रोचकता लाने का प्रयत्न हो उसे घटना-प्रधान कहा जायगा जैसे 'नागपूजा'।

२—घटना और अवस्था-समन्वित—ऐसी कहानियाँ जिनमें घटनायें हैं, कथानक है, किन्तु वे कथानक सामाजिक, राजनैतिक आदि अभावों अथवा समस्याओं को स्पष्ट करने के लिये लाई गई हैं उदाहरण : 'ठाकुर का कुआ', 'शान्ति'।

३—व्यवस्था-प्रधान—जैसे 'कुत्सा', 'जादू'।

४—घटना तथा मानव-समन्वित—घटना तथा मानवीय तत्वों का जिनमें संतुलन हो।

५—मानव-प्रधान—जिसमें किसी मानव के कहानी के कथानक और उद्देश्य की दृष्टि से जितने चरित्र की अपेक्षा हो, वह सम्पूर्ण उपस्थित किया गया हो, उदाहरण के लिए 'माता का हृदय', 'अलग्ग्यौभा' ।

६—मानव की भाँकी—जिसमें चरित्र के एक अंश अथवा पहलू की सम्पूर्णता न हो, वरन् चरित्र की एक किरण की भलक ही स्पष्ट की जाय । उदाहरण 'ईदगाह', 'कफन' ।

घटना, अवस्था और चरित्र—इसी आधार त्रयी पर प्रेमचन्द का सारा कहानी-साहित्य बाँट कर हमें देखना है कि इसमें वे कहाँ क्या लाये हैं ।

प्रेमचन्द के कहानी साहित्य की घटना

संसार के साहित्य पर दृष्टि डालने से विदित होता है कि अधिकांश कहानियों में एक कथानक होता है । दो व्यक्ति-उनमें परस्पर प्रेम । तीसरा आया प्रतिद्वन्दी । वह हारा, प्रेमी मिले सुखात कहानी होगई । वह प्रतिद्वन्दी जीता, प्रेमी न मिल सके कहानी दुःखान्त हो गई । इस कथानक की रूढ़ रेखाओं पर माँस मज्जा से विविध स्थूलतायें देकर कहानी का निर्माण होता है, पर प्रेमचन्द की कहानियों में इतनी महज पकड़ नहीं । उनकी कोणों एक परिधि नहीं मिलती ।

प्रेम का जिनमें समावेश है, ऐसी कहानियाँ प्रेमचन्द ने अधिक नहीं लिखी हैं । अधिकांश कहानियाँ वे हैं जिनमें प्रेम के अतिरिक्त भिन्न-जीवन और उसके उत्तरदायित्वों के रस-विरस की गाथायें हैं । वे घटनायें कैसी और क्या हैं, इन्हें हम का विभागों में बाँट कर देखेंगे । वे घटनायें जो व्यक्ति से सम्बन्ध रखने वाली हैं, फिर वे जो घर से सम्बन्धित हैं, और जो समाज

से सम्बन्धित हैं, तथा वे जो देश-जाति और धर्म से सम्बन्धित हैं।

व्यक्ति से सम्बन्धित घटनायें

इन घटनाओं में हम उन घटनाओं को नहीं लेंगे जो चरित्र-व्यवस्था से सम्बन्ध रखने वाली कहानियों में आ गई हों। लेखक ने अपनी कहानियों में व्यक्ति को ही लिया है। अधिकांश, उस व्यक्ति का उसने अनेकों दृष्टियों से अध्ययन किया। प्रेम, मैत्री, नीति, सम्मान, व्यवसाय, व्यवसन, धर्म, घर, नाते-रिश्ते, शासन आदि वैविध्य लिये हुए घटनायें हैं, जो साधारण कहानी-कार काम में नहीं लाता।

प्रेम सम्बन्धी घटनायें भी वैसी नहीं, जैसी साधारणतः कहानियों में मिला करती हैं। यह प्रेम के लिये या प्रेम के मनोविज्ञान को प्रस्तुत करने के लिये नहीं। प्रेम के द्वारा किसी आदर्श को उपस्थित करने या समस्या पर प्रकाश डालने का उद्योग किया गया है। व्यक्ति प्रेम पर न्यौछावर हुआ है, पर प्रेम का गुलाम नहीं बना।

व्यक्ति ने बाज़ार में जा कर ग्विलौना न खरीद कर चिमटा खरीदा। उसने मा की इच्छा के विरुद्ध इंगलैण्ड आई० सी० एस० की शिक्षा प्राप्त करने को प्रस्थान कर दिया, पिता के मरने पर मा का प्रधान स्थान पुत्र ने छीन लिया, लड़की ने चाहा पति उसकी इच्छा के अनुकूल बने तभी वह उसके अनुकूल होगी। एक महाशय अपनी सोशलिज्म भूल कर जमींदारी करने में आ गये, पद की ईमानदारी पर अपना भविष्य बलि कर दिया, फाँके मस्ती स्वीकार की पर मन के विरुद्ध शासन स्वीकार नहीं किया।

किमी भी प्रकार की घटनाओं में व्यक्ति को उलझाया गया

हो, हमें यह विदित होता है कि वह साधारण भारतीय-जन के मनोविज्ञान और मनोगति से कहीं भी च्युत नहीं हुआ । यथार्थ मन-मस्तिष्क, हृदय और संस्कार उसके भारतीय दीखते हैं, घटनायें व्यक्ति, समाज, धर्म या राजनीति किसी से सम्बन्धित हों, वे जहाँ चमत्कारपूर्ण हुई हैं, वहाँ भारतीय विश्वासों की स्वाभाविकता के अनुसार ही हुई हैं ; अन्यथा कहानियों की घटनायें एक स्वाभाविक क्रम से आयी हैं, और वे घटनायें ऐसे ही आकस्मिक हैं जैसे प्रकृति जगत में होती हैं ।

अवस्था और चरित्र की कहानियों पर प्रकाश, कहानियों की विविध अवस्थाओं के विकास के अन्तर्गत, स्वयमेव पड़ता चला जायगा, अतः उन पर यहाँ विशेष नहीं लिखा जाता ।

— — —

कहानियों का ढर्रा TECHNIQUE

पहला ढर्रा :—

प्रेमचन्द ने एक नहीं कई ढर्राँ को अपनाया है। इनका एक ढर्रा यह है कि व्यक्ति को एक बात में आस्था है, वह उसे अपनाये चला जा रहा है। एक आघात से उसका भ्रम-भंजन हो जाता है, वह उसे त्याग देता है। परिणाम स्वरूप उसे कहीं अन्यत्र उसका पुरस्कार मिलता है। उदाहरण—पुरस्कार, लाल भंडी और 'बैंक का दिवाला'।

दूसरा ढर्रा :—

वह है जहाँ वह एक सीधे-सच्चे मार्ग पर है, परिस्थितियाँ दबाव डालती हैं वह दबाव उस पर पूरा पड़ जाता है, वह अटल बना रहता है। उदाहरण—सज्जनता का दण्ड।

तीसरा ढर्रा :—

इसी प्रकार में थोड़ा-सा परिवर्तन करके तीसरा ढर्रा बना है। परिस्थितियों का पूरा दबाव पड़ता है, वह अटल रहता है, अन्त में परिस्थितियों का मूल सूत्रधार उसकी ओर झुक कर उसको पुरस्कृत करता है। उदाहरण—'नमक का दारोरा'।

चौथा ढर्रा :—

वह जहाँ कथा-सूत्र सीधे-सच्चे मार्ग पर चल रहा है। एक घटना होती है—संवर्ष उत्पन्न हो जाता है, सूत्र विभाजित होकर एक दूसरे से भिन्न दिशाओं में प्रभावित होता है; विरोध बहुत बढ़ा कि फिर एक घटना और फिर दोनों पूर्व स्थिति को प्राप्त हो गये। उदाहरण—बड़े घर की बेटी।

मेल के मार्ग पर कहानी चल रही है। पहली घटना : घी के विषय में विवाद, भाई-भाई में विरोध चरम पर, दोनों भाई टूट जाना चाहते हैं : एक घटना : भाभी देवर को रोक लेती है : फिर मेल ।

उदाहरण--पञ्च परमेश्वर ।

दो मित्र मेल से : पहली घटना एक मित्र ने पञ्च वन कर दूसरे के विरुद्ध न्याय किया : दोनों में विरोध, घटना सूत्र विभाजित : दूसरी घटना : दूसरा मित्र पञ्च और सच्चाई का ज्ञान : दोनों फिर मिले ।

पाँचवाँ ढर्रा : —

कथा का मूल सूत्र आगे बढ़ा : एक अन्य वस्तु ने प्रवेश किया : उससे मूल वस्तु विकृत होने लगी : विकार की उग्रता से वह समाप्त । उदाहरणार्थ 'सौत'--गोदावरी ने आग्रह पूर्वक सौत बुलाई : उसकी प्रतिक्रिया में वह स्वयं फँस गई और आत्मघात में परिसमाप्ति हुई ।

छठवाँ ढर्रा : —

कथा-सूत्र दो के विरोध को मान कर चलता है : विरोध बढ़ता ही जाता है : प्रतिद्वन्द्विता में एक पिछड़ने लगता है : वह एक घटना द्वारा विरोध अन्त कर मिल जाता है । उदाहरणार्थ--'लाग-डॉट'

चौधरी और भगत में विरोध : विरोध बढ़ता है । चौधरी काँग्रेसी, भगत सरकार परस्त : भगत पिछड़ा : चौधरी के द्वार पर सन्ना, भगत एकदम देशभक्त बन गया : चौधरी और भगत मिल गये ।

सातवाँ ढर्रा : —

कथा-सूत्र में दो भिन्न धरातल : नीचा धरातल ऊपर वाले को खींच लेता है : एक घटना से दोनों विरोध के साथ चलते

है। फिर निम्न धरातल का पश्चात्ताप, वे फिर ऊपर उठ जाते हैं उदाहरणार्थ 'शान्ति'।

शान्ति और पाति, भारतीयता के विरुद्ध पाति—पाति ने शान्ति को अपने मनोनुकूल विदेशी शैली का बनाया—शान्ति उसी सभ्यता की चेरी, पाति की अवहेलना—पाति की चिमारी, वे फिर मिल गये—पाति को अपनी भूल विदित हुई।

लेखक की सहानुभूति भारतीय संस्कृति की ओर, अतः उसी को ऊँचा धरातल माना जायगा।

आठवाँ दर्रा—

कथा-सूत्र में एक व्याक्त सेवा आदि के आदर्श की भूँठी उच्चता लेकर चलता है, वह चलता है उच्चता दिखाने कि उसे एक घटना से ठेस लगती है और वह वास्तविक उच्चता (महानता) की ओर दौड़ पड़ता है। उदाहरण—‘उपदेश’

पं० देवरत्न शर्मा समाज सेवक विख्यातः दिखावाः प्लेग से डर कर गाँव : गाँव में बाबूलाल के हिस्से का सुप्रबन्ध : पुलिस के अत्याचार से धक्का : बाबूलाल के पाम जा उसके आदर्श का मार्ग लेना।

नवाँ दर्रा—

कथा-सूत्र में आरम्भ में बहुत से व्याक्त आते हैं। वे सभी अपने कौशल दिखाने को लालायित। तब एक घटना होती है और उसमें एक ही सफल होता है और वह ही ऊँचा उठ जाता है। उदाहरण—‘परीक्षा’

अनेकों उम्मेदवारों के साथ जानकीनाथ भी उम्मेदवार हैं देवगढ़ की मैनेजरी के लिये। एक दिन हाकी के खेल के उपरान्त एक घटना, एक बेलगाड़ी नाले में फँस गई, और सब उम्मेदवार

चले गये उसे देखते हुए। जानकीनाथ में सहानुभूति, उसने गाड़ी निकलवाने में सहायता प्रदान की। वह सफल हुआ, वहीं मैनेजर चुना गया।

दसवाँ दरा—

दो दरों के समान है—पर इसमें दो प्रतियोगी नहीं। दोनों एक घर के सदस्य : स्त्री और पुरुष हैं। उन दोनों में मत-भेद है। स्त्री पुरुष से सहमत नहीं। पुरुष की मृत्यु-तब पुरुष का जनता द्वारा अत्यन्त सम्मान। इस घटना से स्त्री भी पुरुष की मत की हो गई। उदाहरण—‘मृत्यु के पीछे’

बाबू ईश्वरचन्द सम्पादक—दरिद्र मानकी, उनकी स्त्री को यह नापसन्द। सहायता के लिये लड़का मोंगा। मानकी का विरोध, बाबूजी की मृत्यु, जनता द्वारा उनका सम्मान और मूर्ति-निर्माण। मानकी चेती तब पुत्र को समझाया कि वह भी पिता का मार्ग अनुसरण करे।

ग्यारहवाँ दरा—

दो विरोधी सूत्र : दो कहानियाँ—दोनों सूत्रों में एक-एक के प्रति आकर्षित, दूसरा बिलग। निम्न सूत्र के परिवार में एक घटना, उच्चसूत्र को पूर्वस्थिति प्राप्त। उदाहरण—आभूषण।

बारहवाँ दरा—

कहानी के सूत्र को कहानी बनने का पहला तो एक व्यापक धरातल है—पहले उस धरातल से चल कर दो। सूत्र संयुक्त तथा बिलग होते, लिपटते चलते हैं, एक तीव्र घटना से एक सूत्र अलग चल देता है—दूसरे सूत्र को उस धरातल पर दुःख मिलता है, तब उसे उस बिलग की ओर बढ़ कर उसे अपने साथ धरातल पर लाना पड़ता है। उदाहरण—‘महातीर्थ’

बच्चे से प्रेम करने वाली दो : मा और दाई । मा को दाई से चिढ़-पर चल रहे हैं फिर भी । एक घटना से दाई अलग हो जाती है । बच्चा बीमार होता है । मा दुखी-फिर दाई बुलाती जाती है ।

तेरहवाँ ढर्रा :—

कहानी में दो सूत्र चले—एक सीधा-सच्चा जिससे दूसरे की पटती नहीं । एक घटना—दूसरा विलग होकर दूर चला गया । एक और घटना वह पहले से आ भिता और अब दोनों बिल्कुल मिल गये । यह ढर्रा चौथे ढर्रे से इस बात में भिन्न है कि इसमें कथा सूत्र आरम्भ से ही उद्विग्नता लिए हुए है—संघर्ष नहीं तो कम से कम असहिष्णु भाव आरम्भ से ही है, फिर चौथे ढर्रे में कथा के दोनों सूत्रों में ननाव होता है, यहाँ केवल एक ही सूत्र अपने साथ को छोड़ कर दूर गया है । अन्त एकसा है । छठे ढर्रे से भी यह भिन्न है, क्योंकि छठे ढर्रे में आरम्भ से ही प्रतिद्वन्द्विता चलती है—और ननाव दोनों ओर बढ़ता चला जाता है—इस ढर्रे में प्रतिद्वन्द्विता का तत्त्व काम नहीं कर रहा है । उदाहरणार्थ—
‘सुहाग की माई’

प्रेमचन्द की आरम्भिक कहानियों के मूलतत्त्व

हिन्दी में 'सप्त सरोज' की कहानियों को हम प्रेमचन्द की आरम्भिक कहानियाँ कह सकते हैं। उर्दू में आपने अच्छा यश प्राप्त कर लिया था। हिन्दी में भी शीघ्र ही आपका स्थान बन गया था। 'सप्त सरोज' के प्रथम संस्करण की भूमिका में मन्नन द्विवेदी गजपुरी ने यह सूचना दी है कि—

“इन प्रतिभाशाली लेखक महानुभाव ने इतनी जल्दी हिन्दी-संसार में इतना नाम कर लिया है कि आश्चर्य होता है। आपकी कहानियाँ हिन्दी संसारमें अनूठी चीज हैं। हिन्दी की पत्र-पत्रिकायें आपके लेखों के लिए लालायित रहती हैं।” आगे तो गजपुरीजी ने यहाँ तक लिख डाला है कि ‘कुछ लोगों का विचार है कि आपकी गल्पें साहित्य मार्तण्ड रवीन्द्र बाबू की रचना से टकर लेती हैं।’

अतः इन कहानियों में जो तत्व हमें मिलेंगे वही प्रायः उनकी आरम्भिक कहानियों के मूल तत्व होंगे।

इन कहानियों पर दृष्टि डालने से विदित होता है कि कहानी-लेखक ने मनुष्य के चरित्र की अपेक्षा आचरण को अपना विषय बनाया है। आचार को दृष्टि में रख कर कथानक की सृष्टि की गई है—उदाहरणार्थ ‘बड़े घर की बेटी’ में हम लाल बिहारी, श्री-कृष्ण अथवा आनन्दी के चरित्र का परिचय नहीं पाते, विशेष अवसर और परिस्थितियों में उनका आचार क्या होगा यही हम जान पाते हैं। आचार के द्वारा कहानी के सूत्र खुलते-मिलते चलते हैं और घटनायें आचारों के स्तम्भों का सहारा लेती हुई कथानक को पूर्णता प्रदान करती हैं।

वे कहानियाँ जिनमें 'आचार' को ही विषय बनाया जाता है स्थिति विशेष में किये गये कृत्यों तक ही सीमित रहती हैं, अतः हमारी सहानुभूति पात्रों तक न पहुँचकर कृत्यों तक ही रह जाती है। हमारी कल्पनाएँ आनन्दी, जुम्नन, अलगू, अलोपीदीन, सरदारसाहब, शर्माजी अथवा बाबूलाल, सुजानसिंह आदि के व्यक्तित्व, उनके अस्थिमज्जा के शरीर और कृत्यों की रूप-रेखा के अतिरिक्त जो अस्थूल भाव और प्रेरणाप्रद प्राणमय, आदि से अन्त तक हृदय और मस्तिष्क के पारस्परिक ताने-बाने से सञ्चरित, एक सुमंजस रूप होता है उस तक नहीं जाती—उन व्यक्तियों के, पात्रों के विविध आचरण तथा कृत्य और उन कृत्यों की उसी आचरण की सीमा में आवद्ध प्रेरणा अथवा शक्ति अथवा दार्शनिकता ही हमारे समक्ष उभर पाती है। फल यह होता है कि पात्रों में चरित्रगत भेद नहीं रह जाता, वे घटना और आचार में ही अलग हो पाते हैं; या पहचाने जाते हैं।

इन आचारों और घटनाओं के अतिरिक्त जो पात्रों का परिचय होता है, वह उनका विवरण या व्याख्या ही हो सकता है, पात्र की मानवीय पूर्णमत्ता (Human totality) की अविच्छिन्न सम्बद्धकता (Continuous link) अथवा उसका अङ्ग (limb) नहीं बन पाता। लालबिहारी का यह परिचय कि वह अधिक पढ़ा न था, और श्रीकण्ठ का यह परिचय कि वह विशेष पढ़ा था, आनन्दी बड़े घर से आयी, और गोदावरी निराश होने वाली न थी, पण्डितजी सीधे आदमी थे, सरदार साहब मितव्ययी आदमी थे ऐसे वर्णन कहानी में कही जाने वाली बात के लिए अनावश्यक हैं, हाँ कहानी के लिए नहीं। ऐसी कहानियों में पात्रों का परिचय देकर यह विभेद करना कहानी को रोचक बनाने, अथवा उससे कोई अन्य उद्देश्य सिद्ध करने, या पात्रों के निजत्व की (individual identity) व्यक्तित्व (Personality) की नहीं

रचा करने के ही निमित्त होता है। लालबिहारी का जो परिचय दिया है उसमें उजड़ुता दिग्वाना लेखक का उद्देश्य है, श्रीकण्ठ को इतना पढ़ा लिखा बताना इस उद्देश्य से है कि ज्ञान और आचरण का वैषम्य स्पष्ट किया जाय। गोदावरी और गोमती का भेद कहानी को रोचक बनाने के लिए है, अलगू और जुम्हन का पारिचयान्तर उनके निजत्व (individual identity) को रचा के लिए है। अन्यथा कहानी बिना इन परिचयों और नामों के भी कहानी बनी रहती—

एक राँव में दो भाई थे। छोटा भाई शिकार करके लाया। भाभी को उसे पकाने को दिया। भाभी ने घर में जो थड़ा बचा हुआ ची था वह सब उसने पकान में डाल दिया। देवर ने दाल में घी माँगा। शिकार पकाने में सब घी डाल दिया गया है, यहाँ सुन कर वह भाभी पर रुष्ट हुआ, खड़ाफ़ फेंक कर मारी। भाभी नाराज हो गयीं, खटपाटी लेकर पड़ रही। तीन दिन ह गये। आये बड़े भाई, अपने छोटे भाई का यह आचरण सुन कर वे भी बड़े क्रुद्ध हुए और कहा कि मैं छोटे की सूरत नहीं देखूँगा। इस पर छोटे रूठ गये। घर छाड़ने का तैयार हो गये। पर भाभी को आगयी दया। उसने रूठे देवर को हाथ पकड़ कर रोक लिया—अब तो बड़े भाई भी मान गये। और सब ठीक हो गया—‘बड़े घर की बेटी’ का यह कहानी-रूप कहानी के नाते पूर्ण है, घटनाएँ कोई व्याख्या नहीं चाहतीं, आचारों के लिए किसी विशेष प्रकार के चरित्रों की व्यवस्था की आवश्यकता नहीं। घटनायें चरित्रों का अङ्ग नहीं, वे कहानी का ही अङ्ग हैं। इन आरम्भिक कहानियों में मे सभी को इस प्रकार रूपान्तरित किया जा सकता है। ये घटनायें आचार-क्षेत्र की हैं।

फलतः आचार का ही स्टैंडर्ड, आचार की ही कसौटी, आचार की ही रूप-रेखा इन आरम्भिक कहानियों में खड़ी की

गई है। इससे इन कहानियों में विकास (evolution) पर दृष्टि नहीं जितनी कि प्रकाश (exposition) पर है।

कहानी लेखक ने विविध रूप-रङ्ग के आचारों को खोल कर रख दिया है। उनकी नग्नता प्रकाशित कर दी है। साथ ही उसने विविध आचारों के सम्बन्ध में विविध तर्क-शक्ति का सहज उद्घाटन भी किया है—और यह प्रायः वहीं किया गया है जहाँ उसे प्रचलित मान की कमी दिखलाना अभीष्ट है।

इन आचारों में घर और संस्था के आचारों को विशेष रूप से अपनाया गया है।

ऊपर के स्पष्टीकरण से यह भ्रम नहीं हो जाना चाहिए कि प्रेमचन्द की इन कहानियों में पात्रों में सजीवता नहीं। व्यक्तित्व और सजीवता दोनों भिन्न वस्तुएँ हैं। संसार में जिसे हम साधारण जन कहते हैं वह निःसन्देह सजीव होते हुए भी व्यक्तित्व-हीन होता है। अवसर पर किसी विशेष प्रकार का कार्य कर डालने से ही वह अपने अन्य साथियों से कुछ साधारण भिन्न होने का अधिकार पा सकता है। उसमें अपने व्यक्तित्व का जागृत अभिमान नहीं होता, और नहीं होता उसमें अपने व्यक्तित्व का व्यसन, जो अपने विविध मानसिक उतार-चढ़ावों और भाव-मण्डलों (complex) की क्रिया-प्रतिक्रियाओं का एक रसायनिक रूप (chemical compound) उपस्थित करता है।

प्रेमचन्द के पात्र इसी साधारण समाज में से लिये गये हैं। वे महान बनने या नेता बनने नहीं आये, वे कोई अदभुत चरित्र उपस्थित करने नहीं आये। वे अपने जीवन में आनेवाली नित्य की परिस्थितियों से जूझते हैं, और उन नित्य साधारण परिस्थितियों में वे जिस आचार को उपस्थित करते हैं, वह यों भले ही अपनी अन्तर-गुणशीलता (merit) के कारण ऊँचे समझे जायँ, पर वहाँ वे साधारण से कुछ ही भिन्न हो पाते हैं और प्रशंसा उतने

पर ही पा जाते हैं। उनके आचार की प्रशंसा और दिव्यता की कसौटी इस पर निर्भर नहीं करती कि उन्होंने कोई महान कार्य किया। महानता नहीं, चमत्कार नहीं, अ-मानवीयता अथवा परा-मानवीयता (un-human or super-human) भी वह कसौटी नहीं—ऐसे कार्यों के योग्य उनका एक भी पात्र नहीं। शक्ति-शालीनता भी उस अन्तःगुणशीलता (merit) का भाग नहीं बन सकी—फिर उनकी इन कहानियों के आचार को प्रशंसित स्थान क्यों मिलता है? इसलिए कि उनमें सहज व्यवहार्य सत-गुणों का परामर्श मिलता है। उन आचारों में मिलने वाले परामर्श का यदि हम किसी कारण आदर्श ही कहना उपयुक्त समझ तो उसमें व्यवहार्य आदर्श मिलता है। वह चाहे 'बड़े घर की बेटी' हो, या 'पञ्च परमेश्वर' 'नमक का दारोगा' हो, या 'सज्जनता का दण्ड', या 'लाल फीता' या 'परीक्षा'—साधारण समाज के साधारण पात्र घर में या संस्था में उन्हीं व्यवहार्य सतगुणों के परामर्श से प्रोद्भासित हैं।

घर और संस्थाओं में इन आचारों की प्रतिष्ठा करते हुए भी वे आचार 'व्यक्ति' में ही समाहित हैं, उन आचारों का पात्र व्यक्ति है।

सत गुणों (meritorious) के इन आचारों की और स्थितियों की कहानो लेखक ने उपलब्धि करायी है और उस उपलब्धि का कुछ भाग सीधे पाठकों पर प्रकट होता है, कुछ पात्रों के द्वारा। इस प्रकार की उपलब्धि के लिए कहानी-लेखक को स्थिति या व्यवहार के फेरों का सहारा लेकर वैयम्य (contrast) दिखाने या पूर्व अवस्था वी पश्चात् अवस्था का जबाब बना देने की प्रणाली को अपनाना पड़ा है।

श्रीक'ठ सम्मिलित कुटुम्ब के पोषक, दूसरों को मार्ग दिखाने वाले, पर स्वयं शीघ्र एक ही घटना पर असहिष्णु होकर अलग

होजाने को प्रस्तुत; गोदावरी ने पहले गोमती के पति को लक्ष्य करके कटु बातें कहीं, बाद में वैसी ही बातें गोदावरी को सुननी पड़ीं। “तीन साल पहले गोमती ने इसी तरह की बातें गोदावरी के मुंह से सुनी थीं। आज गोदावरी को भी गोमती के मुंह से वैसी ही बात सुननी पड़ीं।”

इस प्रकार अच्छी या बुरी एक स्थिति के लिए दूसरा जवाब खड़ा करना पड़ा है। वह जवाब तभी जबाब हो सकता है जब पहली के विपरीत हो। इस वैषम्य अथवा वैपरीत्य को दिखाने के लिए, उन्हें कहानी में स्पष्ट दो पक्ष रखने पड़े हैं।

कहानी में यह द्विपक्षता कहीं तो केवल भाव में वैपरीत्य बन कर रह गयी है—वाक्वैद्ग्य की भाँति। ‘उपदेश’ में शर्मा जी का एक त्याग का रूप और दूसरा कायरता का रूप साथ-साथ खड़ा किया गया है। त्याग में कायरता का भाव छिप कर वाक्वैद्ग्यता का रूप ग्रहण कर लेता है। कहीं यह द्विपक्षीयता दो पात्रों के विपरीत-रूपों के सङ्गठन से सिद्ध होती है। इसी उपदेश में एक ओर शर्माजी हैं दूसरी ओर बाबूलाल। ‘नमक के दरोगा’ में अलोपीदीन एक ओर, वंशीधर दूमरी ओर। परीक्षा में फैशन वाले एक ओर, दूसरी ओर जानकीनाथ; ‘बैङ्क का दिवाला’ में जगदीश और अहीर। कहीं यह स्थिति वैषम्य बन कर आयी है। परीक्षा में ही दीवान पद के उम्मीदवारों का वर्णन देखा जा सकता है। फिर ‘पञ्च परमेश्वर’ में जुम्हान और अलगू को स्थिति वैषम्य से ही सच्चाई का ज्ञान होता है। कहीं-कहीं अवस्थान्तर से द्विपक्षीयता अभिव्यक्त होती है। गोदावरी की पूर्व और उत्तरावस्था, श्रीकण्ठ के दो विपरीत रूप तथा शान्ति की अवस्था का अन्तर भी ऐसा ही है। यह द्विपक्षीयता कहीं-कहीं दो अलग कथानक चाहने लगती है, अतः कहानी दो कहानियों के मेल के समान लगने लगती है—‘आभूषण’ कहानी में एक कहानी

विमल और शीतला की, दूसरी सुरेश और मङ्गला की। विमल और शीतला में शीतला के आभूषण प्रेम में दुस्मान्त अवस्था का चित्र, उसके विपरीत सुरेश और मङ्गला में मङ्गला के प्रेम की विजय से सुस्मान्त अवस्था का चित्र, एक ही कहानी में गूँथा गया है।

इस द्विपक्षीयता में फलतः प्रेमचन्द की इन प्रारम्भिक कहानियों में परिस्थिति और मानव-सङ्कल्प की लाग-डाट खड़ी हो गई है। प्रेमचन्दजी इन कहानियों में यह मानते हैं कि परिस्थितियों का चक्र मनुष्य को अपने सङ्कल्प की राह नहीं चलने देता, पर मानव-सङ्कल्प इन परिस्थिति-चक्रों से हारता नहीं—वह अड़ जाता है। दोनों में समन्वय नहीं, समझौता नहीं! तब दोनों को एक दूसरे से समन्वय विच्छेद कर लेना पड़ता है। अपने-अपने सङ्कल्प की रक्षा करनी ही चाहिए यह मानवीय धर्म है—‘नमक का दारोगा’ छटपटाता है अपनी ईमानदारी की रक्षा के लिए, सरदार साहब विकल है अपनी सज्जनता के लिए, पर वे जब परिस्थितियों से मुक्त हो लेते हैं स्ववश या परवश, तभी निश्चिन्त हो पाते हैं। ये परिस्थितियाँ क्या हैं? घर के सम्मिलित कुटुम्ब की; अपने बनावटी जीवन की, अपनी अनुचित चाह की; अपने सस्कारों की; अपने उत्तरदायित्व की... । परिस्थितियाँ समय के फेर से, आकस्मिक घटनाओं से, स्वभाव परिवर्तन से, स्थल भेद से, व्यवहार भेद से, पद भेद से तथा अवस्था भेद से बदलती हैं, यह प्रेमचन्दजी मानते हैं।

प्रारम्भिक कहानियों के आरम्भ तथा निर्वाह के नत्व
और समस्यायें

किन्तु किसी भी कहानी में उसके विषय, वस्तु, कथानक सम्बन्धी तत्वों के साथ ही उसका आरम्भ और अन्त तथा

निर्वाह भी महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। इन तत्वों से ही कहानी की गति-विधि बनती है, और कहानी में जीवन आता है।

प्रेमचन्द की इन आरम्भिक कहानियों में हमें आरम्भ का एक नियम यह मिलता है कि वह 'परिचयान्मक' हो। यह परिचय अवस्था और पात्रों का होता है। इस परिचय में पहले ही प्रेमचन्द यह बतला देते हैं कि कहानी के पात्र कौन हैं? उनकी आर्थिक और सामाजिक स्थिति क्या है? उनके विचारों की अवस्था कैसी है? स्वभाव कैसा है? साथ ही इस प्रकार के परिचय में वे उस वस्तु का भी उल्लेख कर जाते हैं, जो आगे कहानी का मूल विषय बनेगा।

कहानी के आरम्भ में जहाँ यह परिचय प्रेमचन्द ने देना आवश्यक समझा है, वहाँ यह आवश्यक नहीं समझा कि ऊपर बताई गई सभी बातें एक साथ कह दी जायें। प्रत्येक कहानी के परिचय से परिचय के उपरोक्त सभी तत्व नहीं मिलते। कुछ में सभी तत्व हैं तो कुछ में किसी एक अंश को ही लेकर कहानी आरम्भ कर दी गई है।

'बड़े घर की बेटी' में सभी तत्व हैं; कहानी के पात्रों—वेनी-माधवसिंह, श्रीकण्ठसिंह, लालबिहारीसिंह, और आनन्दी तथा उसके मायके के व्यक्तियों का पता हमें आरम्भ में लग जाता है। उनकी स्थिति का पता लग जाता है कि वे पहले घनाढ्य थे, आज उतने नहीं। पात्रों के विचारों का बीज भी दीख जाता है और 'सम्मिलित कुटुम्ब' के प्रति इन लोगों का आग्रह दिखाकर लेखक ने उस वस्तु का भी उल्लेख कर दिया है जो कहानी का मूल विषय है।

'पञ्च परमेश्वर' में और तो सभी परिचय के तत्व मिलते हैं, पर उस वस्तु का उल्लेख लेखक ने नहीं किया जो कहानी का मूल विषय है, किन्तु मूल विषय का जो आधार तत्व है उसका संकेत

अवश्य कर दिया है। 'पञ्च परमेश्वर' कहानी का विषय तो 'पञ्चों का न्याय' है; और इस न्याय का आधार तत्व है 'मैत्री'। इसी मैत्री का उल्लेख करते हुए कहानी का आरम्भ किया है—सबसे पहले शब्द हैं : “जुम्हनशेख और अलगू चौधरी में गाढ़ी मित्रता थी।”

‘नमक का दारोगा’ कहानी में भी ये सभी तत्व विद्यमान हैं। हाँ, मूल-विषय ध्वनित होता है, विपरीत-लक्षण की प्रणाली का उपयोग किया गया है। मूल विषय है रिश्त-विरोध से ईमान-दारी का दिग्दर्शन; पर परिचय में ऊपरी आय का महत्व बताया गया है, और प्रशंसा की गई है।

‘उपदेश’ में भी परिचय के पूरे अंश हैं, हाँ लेखक ने दो प्रथक व्यक्तियों को कहानी में सम्मिलित किया है, अतः परिचय को भी उसने दो अंश में विभक्त कर दिया है।

किन्तु ‘सौत’, ‘सज्जनता का दण्ड’ और ‘परीक्षा’ के आरम्भ में परिचय इस प्रकार पूर्णता लिए हुए नहीं हैं।

‘सौत’ में कहानी के ‘मूल-विषय’ सौत की समस्या के लिए ‘सौत’ को घर में आमन्त्रित करने के कारण, तत्सम्बन्धी पात्रों की अवस्था का ही परिचय है। समस्या का भी इस परिचय में व्योमों का त्यों उल्लेख है—

“उसने दिल को बहुत समझाया, परन्तु मन में जो बात समा गई थी वह किसी तरह न निकली। उसे बड़ा भारी आत्म-त्याग करना पड़ेगा। शायद पति-प्रेम के सदृश अनमोल रत्न भी उसके साथ निकल जाय, पर क्या ऐसा हो सकता है? पन्द्रह वर्ष तक लगातार जिस प्रेम के वृत्त की उसने सेवा की है क्या वह हवा का एक झंका भी न सह सकेगा?”

सज्जनता के दण्ड सम्बन्धी कहानी के आरम्भ में हमें विपर्यस्त परिचय मिलता है—सबसे पहले लेखक ने सरदार

शिवसिंह के स्वभाव की विवेचना और उसके प्रभाव की घटनात्मक—विवरणात्मक नहीं, सूचना दी है। उसके अनन्तर वह सब परिचय दिया है जिसको हमने परिचय कहा है। इस कहानी में निश्चय ही लेखक ने कहानी आरम्भ करने की शैली में थोड़ा परिवर्तन करने की चेष्टा की है।

‘परी ना’ नामक कहानी में भी परिचय-प्रणाली निगली है—कहानी के मूल-विषय के सूत्र की उद्भावना का उल्लेख करते हुए नैमित्तिक परिचय दिया गया है और वह भी अत्यन्त संचिप्त। अन्य कहानियों के परिचय में जिस शैली का उन्होंने उपयोग किया है वह इसमें नहीं।

कुछ शब्द यहाँ इन आरम्भिक कहानियों के आरम्भ में दिये गये परिचयों की शैली के सम्बन्ध में भी।

अवश्य ही ये रूप में विवरणात्मक है, पर इस विवरण में रूप, रंग, आकार, प्रकार का जिक्र नहीं मिलेगा। अवस्था और स्थिति, उनके मनोविकार ये ही उसमें आते हैं, और इनका विवरण देने हुए जहाँ भी अवकाश मिलता है वहाँ व्यंग का आश्रय लिया गया है।

अब हमें कहानियों के निर्वाह पर और विचार करना है। इन कहानियों के निर्वाह (process) में प्रेमचन्द जी ने छह अवस्थाक्रम (stages) रखे हैं—

वे इस प्रकार हैं :—

- १ परिचय
- २ प्रतिस्पर्द्धी पात्र या घटना की तैय्यारी
- ३ घटना—उत्तेजक
- ४ उत्तेजना की उग्रता
- ५ घटना—प्रशोत्ताय
- ६ उपसंहार

इसी अवस्थाक्रम से प्रायः प्रेमचन्द जी ने कहानी को विभागों में विभाजित किया है। किन्तु सभी कहानियों में यह नियम निभाया नहीं गया। कहीं कहीं कई कई विभागों को एक के अन्तर्गत रख दिया गया है, पर ये विभाग मिलते अवश्य हैं।

१ परिचय—परिचय के सम्बन्ध में हम आरम्भ में विचार कर चुके हैं।

२ प्रतिस्पर्द्धी पात्र या घटना की तैय्यारी—परिचय के उपरान्त प्रेमचन्दजी या तो उस बात को लाकर खड़ा करते हैं जो कहानी के पूर्व पक्ष या उत्तर पक्ष, किमी एक पक्ष की प्रतिस्पर्द्धी है।

‘बड़े घर की बेटी में अंक २ में वर्णित घटना यही तय्यारी है। इस घटना का स्वयं कहानी के विधान में अभी कोई मूल्य नहीं, इसके सहारे कोई और घटना घटनी है, उसी की तैयारी इसमें है। इसी प्रकार ‘सौत’ का आना सौत की कहानी में मूल की प्रतिस्पर्द्धी घटना की तय्यारी है, स्वयमेव कोई महत्व नहीं रखती। ‘पंच परमेश्वर’ में पड़ली पंचायत के लिये बूढ़ी खाला का निमन्त्रण उस तय्यारी के निमित्त है; ‘नमक के दरोगा’ में दरोगा का यह जान लेना कि गाड़ी में नमक के डेले हैं, कहानी की पहली घटना की तैय्यारी मात्र है। उपरोक्त में बाबूलाल का परिचय प्रतिस्पर्द्धी पात्र को चित्रित करने के लिये है। परीक्षा में विज्ञापन के फलस्वरूप आये हुए विविध व्यक्तियों का वर्णन तथा वार्तालाप इसी कोटि में समझा जायगा। ‘सज्जनता का दंड’ में कहानी की इस अवस्था का उतना स्पष्ट पता नहीं चलता। कारण स्पष्ट है। यह कहानी एक व्यक्ति के चरित्र-परिचय की शैली में लिखी गई है। चरित्र-परिचय में उनके आचरणों के प्रभाव को ही प्रतिस्पर्द्धी में दिखाया गया है, विशेष घटनायें खड़ी

नहीं होती। सरदार शिवसिंह की 'सज्जनता' के कारण ही क्यों लोग उनके शत्रु हो उठे थे इसकी विविध व्यक्तियों—विरोधी व्यक्तियों द्वारा विवेचना कराके, सरदार शिवसिंह को तनज्जुल करा देने में कहानी समाप्त हो लेती है। इसमें घटना यदि कोई मानी जा सकती है तो वह है यही तनज्जुली का आज्ञा-पत्र जो 'घटना' की भाँति न तो आयास रखता है, न चुभन ही। घटनाओं में कुछ सीमा तक आकस्मिकता होनी चाहिये—जो बात कि (as a matter of course) व्यवस्थानुसार हो पड़े वह घटना का रूप नहीं ग्रहण कर पाता। शिवसिंह की तनज्जुली प्रत्याशित है, जैसा अवस्था वहाँ हो गई है। अतः इस कहानी में साधारणतः ये अवस्थाएँ उभार नहीं पा सकीं। फिर भी 'सज्जनता' के पुरस्कार के प्रश्न में दण्ड की व्यवस्था कराने के लिये ठेकेदारों में जो वार्तालाप है, वह इस तैयारी का ही का अंग है।

इस दूसरी अवस्था के उद्गम आती है वह 'घटना' जो कहानी का गति देती है, उत्तेजना देती है, और कहानी को climax की ओर ले चलती है। यहाँ से चढ़ाव आरम्भ होता है—बड़े घरकी बेटा में यह उत्तेजक घटना है श्रीकण्ठ का यह कथन कि मैं लालबिहारी का मुँह नहीं देखना चाहता। सौत में गोदावरी का ताला फेंक देना, पंच परमेश्वर में अलग का जुमन के विरुद्ध फैसला देना, 'नमक का दारोगा' में सेंट अलोपी-दीन को हिरासत में लेना, उपदेश में अपने हिस्से की गंदगी से घबड़ा कर 'बाबू लाल' के यहाँ जा पहुँचना, परीक्षा में सब फैसले-बुल खिलाड़ियों का हाकी लिये किसान की उपेक्षा करके चले जाना; सज्जनता के दण्ड में सरदार शिवसिंह का लड़की की शादी छूट जाने पर अपने नियम में विचलित होते-होते संभल जाना—ये सब घटनाएँ ऐसी ही घटनाएँ हैं जो कहानी को उत्तेजित करती हैं, और इसके आगे कहानी वेग से समाप्ति की ओर बढ़ती है।

चौथी अवस्था इसी वगमय भाव से अप्रसर होने में है। लालविहारी के घर छोड़ कर अन्यत्र चले जाने की आशका में, गोदावरी की सांत के हाथों दुबले होने में, सज्जनता के दण्ड में ठेकेदारों के इञ्जीनियर को गाली देने के उपक्रम में, पञ्च परमेश्वर में अज्ञान के विरुद्ध घटनाओं का पलड़ा पलटने में, 'नमक का दारोगा' में 'अशक्त' में वंशीधर के विरोध की उग्रता में, उपदेश में पुलिस के अत्याचार की भूमिका में हमें इस चौथी अवस्था का पता लगता है। 'परीक्षा' कहानी में यह अवस्था वहाँ है जहाँ फैसलेयुक्तों के चले जाने पर किसान की अवस्था और दयनीय हो उठी है, और युवक सहायता को तय्यार हो रहा है। यों यह अवस्था इस कहानी में स्थिति और सूक्ष्म हो गई है।

पाँचवी अवस्था है वह दूसरी घटना जिससे कहानी का उप-शमन होने लगता है। आगे बढ़ते हुए सूत्र एक दम रुक जाते हैं, और या तो (Status quo) स्थितिबद्ध हो जाने को तत्पर होती है, या कहानी का सूत्र लौट उठता है। हर अवस्था में यही कहानी में decisive factor—कहानी का निर्णय करने वाली अवस्था होता है। 'बड़े घर की बेटी' में आनन्दी का आगे बढ़ कर देवर को रोक देना, सौत में गोमती के साथ-साथ पति द्वारा भी गोदावरी का अपमान, सज्जनता का दण्ड में तनजुली की आज्ञा, पञ्च परमेश्वर में जुम्हान को पञ्च बन कर न्याय का ज्ञान होना, नमक का दारोगा में कोर्ट के दारोगा को दोषी ठहराना, उपदेश में सिपाहियों का अत्याचार, परीक्षा में युवक की किसान को सहायता पहुँचाना, ये सभी कहानियों के निर्णयात्मक तत्व हैं। इनके साथ जैसे कहानी पूर्ण हो जाती है, जैसे आगे अब कुछ होने को विशेष नहीं रह गया।

तब आता है 'उपसंहार' प्रशासक घटना के फल का दिग्द-

शन ; 'मानो status quo का restoration 'यथावत् स्थिति' में पहुँचना; जैसे बड़े घर की बेटी में या पञ्च परमेस्वर में दूसरे पक्ष का विलुप्त होजाना ; जैसे सौत में गोदावरी का आत्मघात, या आवश्यक क्षेत्र में सहानुभूति मिलना, सज्जनता के दण्ड में स्त्री की सहानुभूति, या भाग सशोषण, जैसे 'उपदेश' में भूले हुए शर्माजी ठीक मार्ग पर आये या फल की घोषणा जैसे परीक्षा में, या पुरस्कृत होना जैसे 'नमक का दारोगा' में ।

कहानी का अन्त इसी प्रकार के उपसंहार में हुआ है :

“गाँव में जिसने यह वृत्तान्त सुना, उसी ने इन शब्दों में आनन्दी को सराहा—बड़े घर की बाँटेयाँ ऐसी ही होता है ।”

‘बड़े घर की बेटी’

“पण्डितजी इस फल को देखते ही मूर्छित होकर गिर पड़े । गोमती रोने लगी । पर क्या वे उसके विलाप के आंसू थे ?”

—सौत

“उसे गले लगाकर वे बोले, रामा ! मुझे तुम्हारी ही सहानुभूति की जरूरत थी अब मैं इस दण्ड को सहषे सहूँगा ।”

—सज्जनता का दण्ड

“अलगू रोने लगे । इस पानी से दोनों के दिलों का मैल धुल गया । मित्रता की मुरझाई हुई लता फिर से हरी हो गई ।”

—पञ्च परमेस्वर

“अलोपीदीन ने प्रफुल्ल होकर उन्हें (वशीधर) गले लगा लिया ।”

—नमक का दारोगा

शर्माजी ने बाबूलाल से कहा है—“.....आपसे अच्छा गुरु मुझे न मिलेगा । सम्भव है कि आपका अनुगामी बन कर मैं आपका कर्तव्य पालन करने योग्य हो जाऊँ ।” —उपदेश

“पेसा आदमी,” सरदार साहब कह रहे हैं “रागीबों को कभी न सतावेगा । उसका महत्त्व यह है जो उसके चित्त को

स्थिर रखेगा। वह चाहे धोखा खा जावे, परन्तु दया और धर्म से कभी न हटेगा।” —परीक्षा

कहानियों की इन अन्तिम पंक्तियों से उपमहार का एक सी शैली का पता चलता है।

इन कहानियों में लेखक ने एक के साथ अनेक समस्याओं का समावेश किया है। जैसा ऊपर बताया जा चुका है, मुख्यतः ये कहानियाँ घर और संस्था से सम्बन्ध रखने वाली हैं।

‘घर’—साधारणतः ‘घर और व्यक्ति’ मध्यवर्ग के या निम्न-कोटि के हैं—या तो जमींदार हैं, छोटे दरजे के, या नौकर हैं।

जमींदारों में सभी दुरवस्था में पड़े हुए हैं, अपनी मर्यादा की रक्षा के लिए ढोंग बनाये हुए- शृण-ग्रस्त हैं। वे विगत वैभव के क्लीव प्रतीक की भाँति सिमिट सिमटाकर अपना दयनीय जीवन व्यतीत कर रहे हैं—और यह अवस्था उनके घरों की दशा में प्रकट होती है।

गौरीपुर गाँव के जमींदार के पितामह पक्का तालाब और मन्दिर बनवा गये थे। पर अब उसकी मरम्मत भी नहीं हो सकती थी। पहले दरवाजे पर हाथी भूमता था, और अब थी बूढ़ी भैंस, उसके लिए चारा तक न जुड़ता था। सूख कर उसके शरीर का पञ्जर रह गया था। आये दिन के मुकद्दमों ने उन्हें खोखला कर दिया है, वे अपनी आधी से अधिक सम्पत्ति वकीलों की भेंट कर चुके थे।

इस जमींदार का भीतरी घर कैसा था? —“हार्थी घोड़ों की तो बात ही क्या कोई सड़ी हुई बहली तक न थी। मकान में खिड़कियाँ तक न थीं, न जमीन पर फर्श, न दीवार पर तस्वीरें। न बाग।”

यह है देहाती जमींदार।

एक छोटी सी रियासत के ताल्लुकेदार की अवस्था देखिये

‘विशाल भवन, एक हाथो, तीन कुत्ते, बाज, बहरी, सिकरे, भाड़-फनूस, आनरेरी मजिस्ट्रेटी और ऋण ।’ एक जमींदार ने ‘शिवजी का मन्दिर’ भी बनवा रखा है ।

जमींदारों के घर के ऐश्वर्य का वर्णन करने में ही कहानी लेखक ने रुचि दिखाई है, क्योंकि उसे इन लोगों के बालू की दीवाल पर खड़े होने वाले दम्भ पर कोई सहानुभूति नहीं उसने इनके वर्णन में इनका उपहास करने का अवसर हाथ से नहीं जाने दिया—व्यंग करने से विरत नहीं हुआ । एक बूढ़ी भैंस का वर्णन करते-करते यह जोड़ देना—“पर दूध शायद बहुत देती थी, क्योंकि एक न एक आदमी हाँड़ी लिये उसके सिर पर सवार ही रहता था ।” कितना गहरा व्यंग है । ‘ऋण’ को एक प्रतिष्ठित ताल्लुकेदार के योग्य पदार्थ बताना भी इसी प्रणाली का व्यंग है ।

जब हम घरों के भीतर प्रवेश करते हैं तो आन्तरिक दीनता का पता चलता है—देहाती जमींदार के यहाँ भली प्रकार खाने को घी तक नहीं जुटता । साधारण नौकर पेशा लोगों के घर का काम जैसे-तैसे चलता है । गोदावरी के रुष्ट होने पर पण्डित देवदत्त की अधिकांश चिन्ता का कारण यही संकीर्ण धन सामर्थ्य है—“उनके ध्यान में न आया कि गोदावरी के हाथ से निकल कर घर का प्रबन्ध कैसे हो सकेगा । इस थोड़ी-सी आम दनी में वह न जाने किस प्रकार काम चलाती थी ? क्या-क्या उपाय वह करती थी ?” ऐसी दुरवस्था के कारण ही लोगों को रिश्वत की ओर झुकना पड़ता है—रामा ने-सरदार शिवसिंह की पत्नी ने-गरीब नौकरों की दशा को इन शब्दों में बताया है :

“मगर वे दस-दस पाँच पाँच रुपये के चपरासी, मुहरिर्, दफ्तरी बेचारे कैसे गुजर करें । उनके भी बाल-बच्चे हैं । उनके भी कुटुम्ब परिवार हैं । शादी, गमी, तिथि-त्यौहार यह सब उनके

साथ लगे हुए हैं। भलमनसी का भेष बनाये बिना काम नहीं चलता। बताओ उनकी गुजर कैसे हो ?”... मुंशी वंशीधर के पिता अनुभवी थे—वे पुत्र को समझा रहे हैं :

“बेटा घर की दुर्दशा देख रहे हो। ऋण के बोझ से दबे हुए हैं। लड़कियाँ हैं, वह घास-फूस की तरह बढ़ती चली जाती हैं।”... और जब नमक का दारोगा हो जाने पर भी उनके पुत्र ने सूखी तनख्वाह घर भेजी तो उन्हें रोना आ गया—मन में उनके यही कुड़कुड़ाहट है—

“हम तो कलार और कसाई के तगादे सहें, बुढ़ापे में भगत बनकर बैठें और वहाँ बस वही सूखी तनख्वाह।”

इस प्रकार ये घर धनाभाव से जर्जर हैं।

आर्थिक अवस्था ही नहीं सामाजिक व्यवस्था भी डिगमिगा रही है। कुटुम्बों में विच्छेद पसंद किया जाता है। स्त्रियाँ मिल-जुलकर रहना पसंद नहीं करतीं, सास, ससुर, देवर, जेठ से उनकी नहीं पटती और वे घर में आते आते अलग चूल्हा जलाने की सोचने लगती हैं। धन की प्रधानता होगई है। जब तक पैसा पाने की आशा है, खातिरदारियाँ होंगी। पैसा मिल जाने पर मनुष्यों का स्वभाव कटु होने लगता है, और नाते-रिश्ते की तथा अपने कर्तव्य की ओर उसका ध्यान नहीं रहता। त्याग और प्रेम का अभाव होगया है। गोदावरी का त्याग और प्रेम देवदत्त पर प्रभाव नहीं डालता, गोदावरी के रुष्ट होने पर देवदत्त को केवल इतनी ही चिन्ता है कि घर का काम इतनी थोड़ी आमदनी में कैसे चलेगा ? ‘प्रेम’ भाव तो दूर यह शब्द तक देवदत्त के सामने नहीं आता। घर में भी धन और बाहर भी धन का सम्मान दीखता है। अलोपीदीन को तो लक्ष्मी के अखंड प्रभाव का पूरा भरोसा है ही, इसी धन से न्यायशालायें केवल तमाशा बन गई हैं, सज्जनता दंडनीय होगई है।

घर के अंग स्त्री और पुरुष केवल घर के व्यवसाय में संलग्न हैं। पारस्परिक सौहाय्य का अभाव दोखता है। पुरुष को स्त्री की मर्यादा का ध्यान है, पर स्त्री को अपने पति से, उसके अच्छे कामों के लिए भी कोई सहानुभूति नहीं। वे पुरुषों के सद्-विचारों से एकमत भी नहीं होपातीं। श्रीकण्ठ की पत्नी आनंदी, एक सीमा तक ही पति के सम्मिलित कुटुम्ब संबंधी विचारों से सहमत है। नमक के दारोगा की पत्नी पति से कई दिन तक सीधे मुँह इसीलिए बात नहीं करती कि उसने रिश्वत न लेने का अपराध किया है। सरदार शिवसिंह की पत्नी भी उनकी सज्जनता पर उनसे अप्रिय बात कह लेती थी; दोनों में पारस्परिक सहानुभूति नहीं रही थी—यही कारण है कि लड़की के संबंध छूटने के पत्र को वे रामा को सुनाने न जासके, आंगन में लौट आये। वे मन में समझते थे कि वह बिना तानों के बात न करेगी। कहीं कहीं ऐसा लगता है कि पुरुष और स्त्री में लेखक ने यह मत-भेद केवल इसीलिए कराया है कि पुरुष के आचरण या सिद्धान्त का दूसरा पहलू भी समझ आजाय। पर यह असौहाय्य सद्मार्ग पर आरुढ़ पति को ही मिलता है। जहाँ दूसरे किसी को आने या छलने का प्रश्न है, अथवा झगड़े का प्रश्न है, वहाँ स्त्रियाँ पुरुष के साथ ही नहीं उनसे आगे बढ़ने को प्रस्तुत हैं, खाला के साथ दुर्न्यवहार करने में करीमन अपने पति जुम्मन से पीछे नहीं पड़ती। सहुआइन भी साहु के साथ अलगू पर कुत्तों की तरह चढ़ बैठने और उसे जलीकटी सुनाने में अपनी पूरी तत्परता दिखाती है। नहीं, साहु के पीछे हटने पर खुद मैदान लेने आगे बढ़ आती है। अलगू ने जुम्मन पर बैल को विष देने का सन्देह भी किया है, उसकी चौधराइन करीमन से इसके पीछे लड़ तक पड़ती है।

घर में, स्त्री के सम्मान का रूप, गृहिणी की मर्यादा है।

गृहिणी वह है जो घर की तालियाँ अपने हाथ में रखे, घर के पाई-पैसे का व्यय जिसके हाथों में हो। जिस स्त्री के हाथ में यह अधिकार नहीं वह गृहिणी-मर्यादा से गिर जाती है और फिर उसके सम्मान का भी अभाव हो जाता है। नौकर चाकर भी अपने व्यवहार में बदल जाते हैं।

इन दुरवस्थाग्रस्त घरों के बाद संस्थाओं पर लेखक ने दृष्टि डाली है, और पाया है कि ये सब अत्यन्त दूषित हो रही हैं। सरकार के जितने महकमे हैं उन सब में रिश्वत, ऊपरी आय, कमीशन आदि का अत्यन्त प्रावलय है। इसके पीछे वास्तविक गुणों का निरादर होता है। नये से नये महकमे इससे आक्रान्त हो उठते हैं। उन्हीं महकमों का सम्मान है जिनमें यह बहुतायत में मिले। पुलिस के बड़े दारोगाजी के ये शब्द महकमों के इस पतन का नग्न चित्र रख देते हैं:—

‘क्या पुलिस ही सारे महकमों से गया-गुजरा है ? ऐसा कौन-सा सीगा है जहाँ रिश्वत का बाजार गर्म न हो। अगर आप ऐसे एक सीगे का नाम बता दीजिये तो मैं ता-उम्र आपकी गुलामी करूँ। मुलाजमत करके रिश्वत न लेना मुहाल है। तालीम के सीगे को बेलौस कहा जाता है मगर मुझको उसका खूब तजुर्बा हो चुका।’

‘पुलिस में जो रिश्वत नहीं लेता उसे मैं अहमक समझता हूँ। मैंने तो एक दयानतदार सब-इन्स्पेक्टर देखे हैं पर उन्हें हमेशा तबाह देखा। कभी मातूब, कभी मुअत्तिल। कभी बरखास्त। ...’

‘जो लोग हाथ बढ़ा कर लेते हैं; खुद खाते हैं, दूसरों को खिलाते हैं, अफसरों को खुश रखते हैं, उनका शुमार कारगुजार नेकनाम आदमियों में होता है।’

यह दशा नौकरी पेशा की है।

यही न्यायालय की अवस्था है। लेखक ने टिप्पणी की है कि

‘ऐसा मनुष्य जिसके पास असाध्य-साधन करने वाला धन और अनन्य वाचालता हो वह क्यों कानून के पञ्जे में आवे’। इसीलिए अधिकारी वर्ग उनके भक्त, अमले उनके सेवक, वकील-मुख्तार उनके आज्ञापालक और अरदली-चपरासी तथा चौकीदार तो उनके बिना मोल के गुलाम थे। न्याय के दरबार में कर्मचारियों पर पक्षपात का नशा छाया हुआ था। न्याय के लिए धनी होना ही स्वयंमेव कितनी ही बुराइयों से दूर होना है। न्याय यह कैसे माने कि कोई भारी आदमी थोड़े लाभ के लिए कानून की चोरी करने का साहस करेगा !

जमींदारी-संस्था की दशा भी कम दयनीय नहीं। ऋण और मुकदमों में व्यस्त हैं। जमींदार किसानों के लिए हौआ है, जिसका काम किसानों को निगल जाना है। जमींदार किसानों को चूसता है, जमींदार से भी अधिक जमींदारी के पाये हैं कारिन्दे। वे किसानों को जमींदार से भी अधिक चूसते हैं। जमींदारों ने गाँव में रहना छोड़ दिया है। पुलिस के अनुभवी दारोगा के शब्दों में— ‘जमींदार निरे जाहिल, लठ्ठ, जरा-जरा सी बात पर फौजदारियाँ कर बैठते हैं।’……‘कई ऐसे बेईमान जमींदार आते हैं जो यह चाहते हैं कि वह आसामियों पर जुल्म करते रहें और पुलिस दखल न दे।’ जमींदार और उनके साथ धनी वर्ग के लोग थोड़े लाभ के लिए भी अनुचित कर्म करने को तैयार हो जाते हैं।

और पुलिस की बात तो पूँछिये ही नहीं ; रिश्वत लेना तो उसका प्रधान कार्य है ही। पर इसके लिए उन्हें शिकार तलाश करना पड़ता है। शिकार कैसे तलाश होता है? ‘किसी पर खुफिया-फरोसी का इलजाम लगाया, किसी को चोरी का माल खरीदने के लिए पकड़ा, किसी को हमल हुराम का भगड़ा उठा कर फाँसा।’ कहीं डाका पड़ गया तो पुलिस की पाँचौ घी में। डाकू नौच-खसोट कर भागते हैं। असली डाका पुलिस का पड़ता है।

आस-पास के गाँवों में भाड़ फेर देते हैं। ईश्वर से प्रार्थना करते हैं कि झूठे-सच्चे डाके की खबर भेजें। यदि यों डाका नहीं पड़ता, तो जरा इशारा कर दिया, डाका पड़ते क्या देर लगती है? फर्जी मुल्जिम पकड़ती है पुलिस, शहादतें गढ़ती है। पर पुलिस से देश हितचिन्तकों को घृणा है—वे तो यहाँ तक मानते हैं कि पुलिस का आदमी प्यास से मर भी जाय तो उसे पानी न देना चाहिये। फिर भी भले आदमियों के साथ व्यवहार में उन्हें कोई अशिष्ट नहीं कह सकता।

और किसानों की अवस्था? ये शोषित, उत्पीड़ित और शोषण और उत्पीड़न से होने वाले अन्य अनेकों विकारों से ग्रस्त हैं। उनसे बंगार ली जाती है। वे अपने जमींदारों के नौकर के भी नौकर हैं। कहार, साईस रसोइया सभी उन पर हुक्म चलाते हैं। लेखक बिना कहे नहीं रह सका कि "सच्चे स्वतंत्र लोग (किसान) इस समय सेवकों के सेवक बने हुए थे।" शहर, निवासी जमींदार को वे उजड़ु अक्खड़ लगते हैं—बात यह है कि जमींदार अपनी आँखों में न देखकर दूसरों की आँखों से देखते हैं। उन्हें पता नहीं कि उनके कारिन्दा और नौकर-चाकर उनके और किसानों के बीच में ईआगो (Iago) का कार्य करते हैं। उन विचारे किसानों की जमींदार तक सीधी पहुँच नहीं—पर किसान वास्तव में शीलवान हैं और बाबूलाल का यह कहना यथार्थ है कि

"शतान्दियों से वह इतने पीसे गये हैं, इतनी ठोकरें खाई हैं कि उनमें स्वाधीन गुणों का लोप होगया है। जमींदार का सामना नहीं कर सकते इसलिए छल कपट से काम लेते हैं।

किसान कारिन्दों द्वारा बहुत अधिक चूसे जाते हैं; बात बात में उन्हें परेशान किया जाता है। वह छान छवाना चाहें तो उन्हें दे, दस्वाजे पर एक खूँटा तक गाढ़ना चाहें तो उन्हें पूजें, कारिन्दे

को घी-दूध मुफ्त खिलावें।

उपदेश में देश-सेवा के जिस रूप का चित्र है वह भी पतनोन्मुख है। शर्मा जी स्वयं प्लेग से भागकर गाँव जा रहे हैं, अपने अनुयायियों का हौसला बढ़ा रहे हैं कि आप यहीं सेवा में अपना जीवन न्यौछावर कर दें। देश-सेवी जातीय सम्मान का भूखा होता है। यह सम्मान वह घर बैठे देश-हित के लेख लिख कर ही प्राप्त कर लेना चाहता है।

इन आरम्भिक कहानियों में इस प्रकार जमींदार, किसान, देहाती, व्यापारी, इंजीनियर, ठेकेदार, वकील, मौलवी, नमक के दारोगा, जमादार, अदालत के कर्मचारी, डिप्टी मैजिस्ट्रेट, देश-सेवी जमींदार, वकील के मुहरिर्, कारिन्दा, पुलिस के दारोगा, सिपाही, चौकीदार, दीवान, जैसे पात्र आये हैं या वर्णन के विषय बने हैं। पर सभी पतनोन्मुख, अनैतिक, जर्जरित। समाज के इसी रूप का चित्र प्रेमचंद जी ने उपस्थित किया है। कर्त्तव्य से धन सबको अधिक प्रिय है और सभी उसके लिए उन्मत्त, सब कुछ करने के लिए व्यग्र प्रतीत होते हैं। यह धन भी वे उचित साधनों से नहीं, सहज अनुचित साधनों से प्राप्त करना चाहते हैं। उसके लिए बड़े बड़े तर्क भी उपस्थित करते हैं। इस समाज में यही नहीं कि धन की चाह ही हो, कर्त्तव्य का स्पष्ट निरादर है। कर्त्तव्यशील व्यक्ति के साथ सहानुभूति के दो शब्द कहने वाला भी कोई नहीं मिलता। धन के समक्ष तो कर्त्तव्य को अत्यन्त प्रताड़ित होना पड़ता है। उसके लिए पुरस्कार नहीं दण्ड मिलता है। नाते-रिश्तेदार उमे जलील करते हैं, स्त्री तक मुख मोड़ लेती है। इस प्रकार समाज की सारी व्यवस्था में कर्त्तव्य-परायण के लिए कहीं स्थान नहीं। कर्त्तव्य से विरत हो जो खुशामद कर सकता है, खुशामद को ही कर्त्तव्य समझता है, अपनी विद्वता को, अपने पद को धन के लिए बेच देने को प्रस्तुत

हैं, सौ छल फरेव करके कानून की सीमाओं को बनाए रखसकता है, वही इस समाज में रहने का अधिकारी है; रहने का ही नहीं पूजा का भी अधिकारी है। यह यथार्थ प्रेमचन्द की आँखों में गड़ गया है। आदर्श तथा कुछ संभले हुए पवित्रता लिए हुए चरित्र तो उनका परामर्श है। वस्तुतः आदर्श के सहारे यथार्थ को उस के (true perspective) वास्तविक रूप में गाय देने की उन्होंने चेष्टा की है। आदर्श वास्तव में यथार्थ की भूमि का पट है।

इसी यथार्थ के कारण उनके वर्णन अत्यन्त सजीव और वास्तविक हुए हैं। इन कहानियों में उन्होंने पंचायत के दृश्य का वर्णन किया है।

पेड़ के नीचे पंचायत बैठी। फर्श बिछा हुआ है। पान, इलायची, हुक्के, तम्बाकू का प्रबन्ध है। सूर्यास्त पर पंचायत हुई 'चिड़ियों की कलरव-युक्त पंचायत पेड़ों पर बैठी तब यहाँ भी पंचायत आरम्भ हुई।' फर्श की एक-एक अंगुल जमीन भर गई। एक कोने में आग सुलग रही थी। नाई ताबड़तोड़ चिलम भर रहा था। यह निर्णय करना असम्भव था कि सुलगते हुए उपलों से अधिक धूआँ निकलता था या चिलम के दमों से। लड़के इधर-उधर दौड़ रहे थे। कोई आपस में गाली-गलौज करते और कोई रोते थे। चारों तरफ कोलाहल मच रहा था। गाँव के कुत्ते इस जमाव को भोज समझ कर भुण्ड के भुण्ड जमा हो गये थे।'

दूमरी पंचायत का दृश्य :—

.....उसी वृत्त के नीचे फिर पंचायत बैठी वही संध्या का समय था। खेतों में कौवे पंचायत कर रहे थे। विवाद-ग्रस्त विषय यह था कि मटर की फलियों पर उनका म्वत्व है या नहीं, और जबतक यह प्रश्न हल न हो जाय तबतक वे रखवाले की

पुकार पर अपनी अप्रसन्नता प्रकट करना आवश्यक समझते थे। पेड़ की डालियों पर बैठी शुक-मंडली में यह प्रश्न छिड़ा हुआ था कि मनुष्य को उन्हें बेमुरौवत कहने का क्या अधिकार है, जब उसे स्वयं अपने मित्रों को दगा देने में भी संकोच नहीं होता।'

गंगा नदी का दृश्य इन शब्दों में है :—

‘कुआर का महीना था। रात को गंगा की लहरों की गरज बड़ी भयानक मालूम होती थी। साथ ही जब बिजली तड़प जाती तब उसकी उछलती हुई लहरें प्रकाश से जज्ज्वल हो जाती थीं। मानों प्रकाश उन्मत्त हाथी का रूप धारण कर किलोलें कर रहा हो। जीवन-संग्राम का एक विशाल दृश्य आँखों के सामने आ रहा था।

गोदावरी के हृदय में भी इस समय विचार की अनेक लहरें बड़े वेग से उठतीं, आपस में टकरातीं और ऐंठती हुई लोप हो जाती थीं। कहाँ ? ग्रन्थकार में।’

एक स्थान पर आकार-प्रकार का वर्णन है :—

सूरत-शक्ल के कुछ सुन्दर न थे। उस शक्ल पर मऊ के चारखाने की लम्बी अचकन और भी शोभा देती थी। जूता भी देशी पहनते थे। यद्यपि कभी कभी वे कड़वे तेल से उसकी सेवा किया करते, पर वह नीच स्वभाव के अनुसार उन्हें काटने से न चूकता था। बेचारे को साल के छः महीने पैरों में मरहम लगानी पड़ती। बहुधा नंगे पाँव कचहरी जाते, पर कंजूस कहलाने के भय से जूतों को हाथ में ले जाते।’

गाँव की शोभा भी देखिये :—

‘फागुन का महीना था। आमों के बौर से महकती हुई मन्द-मन्द वायु चल रही थी। कभी-कभी कोयल की सुरीली तान

सुनाई दे जाती थी। खलिहानों में किसान आनन्द से उन्मत्त हो होकर फाग गा रहे थे।'

और गाँव के खलिहान ?—

वहाँ आम के वृक्षों के नीचे किसानों की गाढ़ी कमाई के सुनहरे ढेर लगे हुए थे। चारों ओर भूसे की आँधी-सी उड़ रही थी। बैल अनाज का एक गाल खा लेते थे। यह सब उन्हीं की कमाई है, उनके मुँह में आज जाबी देना बड़ी कृतघ्नता है। गाँव के बड़ई, चमार, धोबी और कुम्हार अपना वार्षिक कर उगाहने के लिए जमा थे। एक ओर नट ढोल बजा-बजा कर अपने कर-तब दिखा रहा था। कर्वाश्वर महाराज की अतुल काव्य-शक्ति आज उमङ्ग पर थी।

यहाँ जमींदार के कई सिपाही लट्टू लिये अनाज के ढेरों के पास जमा थे। पुष्प-वाटिका में ठूँठ जैसा भद्दा दिखाई देता है अथवा ललित सङ्गीत में जैसे कोई बेसुरी तान कानों को अप्रिय लगती है, उसी तरह वे सिपाही लग रहे थे।

दीवानी के लिए आये हुए उम्मीदवारों का वर्णन भी एक वर्णन ही तो है :—

'मिस्टर 'अ' नौ बजे दिन तक सोया करते थे, आजकल वे बगीचे में टहलते हुए उषा का दर्शन करते थे। मि० 'ब' को हुक्का पीने की लत थी, पर आजकल बहुत रात गये किवाड़ बन्द करके अन्धेरे में सिगार पीते थे। मिस्टर 'द'-'स' और 'ज' से उनके घरों पर नौकरों की नाक में दम था, लेकिन ये सज्जन आज कल 'आप' और 'जनाब' के वगैर नौकरों से बात-चीत नहीं करते थे। महाशय 'क' नास्तिक थे, हक्मले के उपासक, मगर आजकल उनकी धर्मनिष्ठा देखकर मन्दिर के पुजारी को पदच्युत हो जाने की शक्का लगी रहती थी। मिस्टर 'ल' को किताबों से घृणा थी परन्तु आजकल वे बड़े-बड़े ग्रन्थ देखने में पढ़ने में डूबे

रहते थे। जिससे बात कीजिये, वह नम्रता और सदाचार का देवता बना मालूम देता था। शर्माजी घड़ी रात से ही वेद-मंत्र पढ़ने लगते थे और मौलवी साहब को तो नमाज और तलावत के सिवा और कोई काम न था।'

इन दृश्य-वर्णनों पर विचार करके हम कह सकते हैं कि प्रेमचन्द की आरम्भिक कहानियों में प्रसंगवशात् जो वर्णन आये हैं उनमें सूक्ष्म-निरीक्षण मिलता है। छोटी से छोटी बात भी छूटी नहीं। पंचायत के समय बालकों की चिल्लाहटों, कुत्तों का एकत्रित हो आना, चिलम का प्राधान्य, सभी का समावेश है। पर कोई भी दृश्य जड़ नहीं होता। विश्व के इस विधान में विशेष कर जहाँ मानव-समाज की गति है कोई भा दृश्य जड़ और निरर्थक नहीं हो सकता। प्रत्येक दृश्य में एक विशेष 'भूमिका-भाव' को जाग्रत करने की प्रवृत्ति होती है। प्रेमचन्द की इस आरम्भिक यथार्थता के चित्रण का यह रहस्य है कि उन्होंने जड़ यथार्थता-दृश्य के मात्र-अङ्गों का वर्णन नहीं किया, उन्होंने उस सम्पूर्ण दृश्य को, प्रकृति की उस विशद चित्रपटी में, सार्थक अभिव्यक्ति के तात्पर्य को समझा है। पर इस सार्थक अभिव्यक्ति (a purpose full expression) दृश्य की सम्पूर्ण अवस्थिति (Total setting of the scene) की भाव-व्यञ्जकता को लेखक लेखनी से लिपिबद्ध कैसे करे? प्रकृति में तो दृश्य के अनेक सूक्ष्मतन्तु मिल कर एक सम्मिलित प्रभाव स्वयंमेव उत्पन्न करते हैं, उन्हें लेखक कैसे लाये—प्रेमचन्दजी ने उसका पूरा प्रयत्न किया है, और उसके लिए मूल वस्तु के साथ तत्स्थानीय अन्य संतुलित दृश्य को भी उस चित्र का अङ्ग बनाया है—पंचायत के साथ, चिड़ियों का कलरव, चिड़ियों की पंचायत का वर्णन ऐसा ही है। इन विशद वर्णनों में—वस्तु के निर्माण के सूक्ष्म-तन्तुओं में, एक साभिप्राय प्रवृत्ति का संकेत

दूसरा माधन है—कुत्ते एकत्रित हैं मानो उन्होंने उसे भोजन समझ रखा है, इसके साथ ही अलंकार्य वाक्य-विन्यास की प्रणाली—अत्यधिक धुँआ हो रहा है। इस बात को जिस वाक्य-योजना में प्रकट किया है वह है, 'यह निर्णय करना असम्भव था कि सुलगते हुए उपलों में अधिक धुँआ निकलता था या चिलम के दमों से।' इस शैली में संदेह मनोवृत्ति का सहारा लिया गया है, पर वह केवल अलंकार्य है। वातावरण का परिचय सजीव हो उठे और पूर्णता और स्वाभाविकता की झलक से युक्त हो उठे उसके लिए अन्य अनावश्यक पर सम्भव पात्र अथवा घटनाओं का भी समावेश किया है—बालकों का कोलाहल और लड़ाई भगड़ा इसीलिए है। इन तत्वों से दृश्य-चित्र का भूमिका-भाव ही जाग्रत नहीं होता, व्याप्त अङ्गमा का और दृश्य के सम्मिलित प्रभाव का सार्थक अभिव्यञ्जन हो उठता है।

यही नहीं कि संतुलित दृश्यों से उन्होंने दृश्य की सार्थक अभिव्यक्ति ही की हो, उनके सहारे सारे व्यापार पर एक व्यंग्य-पूर्ण आलोचना का मुलम्मा चढ़ाकर उसमें एक विदग्धता भर देने का भी प्रयत्न किया है। कौवों की पंचायत में फलियों के अधिकार पर विवाद, शुक-मण्डली में पेड़ पर मनुष्यों की मुरौवती पर टिप्पणी—ये सब इसी विदग्धता लाने के लिए हैं। कौवे अथवा तोते अपनी-अपनी पंचायत में क्या विचार कर रहे थे, कुछ विचार कर भी रहे थे या नहीं, इसे जानने का दावा नहीं किया जा सकता। किन्तु पंचायत होने जा रही है इस बीज से मनुष्य के मस्तिष्क में पशु-पक्षियों के सामूहिक समारोहों में भी पंचायत के सादृश्य का अनुभव होगा—और यह किसलिए? उस स्वाभाविक सादृश्य में किसलिए का उत्तर लेखक व्यंग्यपूर्ण आलोचना के लिए ही कल्पित करता है।

इससे दृश्य में तीखापन आ गया है ।

इन दृश्य वर्णनों में अवरोधित व्यंग (Suppressed Marcasim) लाने का जहाँ प्रयत्न है, वहाँ अयुक्त वस्तु-समन्वय (Composition of improper objects together), जड़ वस्तु में स्वभावारोपण, तथा ऐसे काम का दृश्य-वर्णन में समावेश जो उपहासास्पद कृत्य और मनोवृत्ति का परिचय दे, यथा कंजूस न कहे इस भय से जूतो को, उनके काटने पर बगल में दबाकर ले जाना । इस प्रणाली से कहानीकार अपने वर्णनों को कई दिशाओं में नश्वर लगाने की योग्यता प्रदान कर देता है । अवरोधित व्यंग में सबसे अधिक मार्मिक होने की शक्ति है ।

दृश्य में होने वाली किसी बात पर संक्षिप्त टिप्पणी देकर भी लेखक इसी अभिप्राय को सिद्ध करता है । बैलों के मुँह में जाबी नहीं दी गयी, वे कभी-कभी अनाज का एक गाल खा लेते हैं— इसका वर्णन कर अपनी टिप्पणी में जो बैलों को मिली हुई आज की इस स्वतंत्रता के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित की गयी है, वह सहानुभूति व्यापक सहानुभूति है; और सभी ऐसे व्यक्तियों के लिए है । जनका परिश्रम-फल दूसरों का उपभोग्य बनता है और परिश्रम करने वाला दुकदुकाता रहता है, वह किन्हीं बन्धनों में बँधा विवश है । तथा विशेष रूप में किसानों के लिए है जिनकी गाड़ी कमाड़ के सुनहरे ढेर जैसे पराये हो रहे हों ।

विद्यमान दृश्यों में कृत्यों के उपहासास्पद स्वभाव को व्यक्त करने के लिए कहानीकार ने उनमें बनावट 'बगुला-भक्तीय' रंग दिखाया है । स्वभाव के ठीक विरुद्ध कार्य का संयोजन करके उस उपहासास्पदता को सिद्ध किया है । पर कार्यो का संयोजन मात्र नहीं, उसमें कर्त्ता का यह अभिप्राय भी रखा है कि वह कार्य वे अवसर साधने के लिए कर रहे हैं, केवल कुछ काल के लिए । वह स्वभाव विरुद्ध कार्य वह है जो दूसरों को पसन्द आ

सकता है। उनके कृत्यों में खुशामद का हल्का पुट लेखक ने झलका दिया है—व्यक्ति की खुशामद नहीं उसकी मनोवस्था की। दीवानी के लिए एकत्रित उम्मेदवारों का वर्णन एक अच्छा उदाहरण है। उसी के साथ नमक के दारोगा का यह दृश्य भी रखा जा सकता है—

जिसे देखिये वही पण्डितजी के इस व्यवहार पर टीका-टिप्पणी कर रहा था, निन्दा की बौझारें हो रही थीं। मानों संसार से अब पाप का पाप कट गया। पानी को दूध के नाम से बेचने वाला ग्वाला, कल्पित रोचनामचेभरने वाले अधिकारी-वर्ग, रेल में बिना टिकट सफर करने वाले बाबू लोग, जाली दस्तावेज बनाने वाले सेठ और साहूकार, यह सब-के-सब देवताओं की भौंति गर्दनें चला रहे थे। स्पष्ट है कि लेखक देवताओं की भौंति गरदनें हिलाने का उल्लेख करके अपने वर्णन को काटून का भी रूप दे देना चाहता है।

यहाँ तक तो इन दृश्यों में मिलने वाले ये शब्द मूलतः गद्यात्मक तत्व हैं।

किन्तु कवि में काव्यात्मकता भी मिलती है, जिसमें भाव-स्पर्श करने के लिए काव्यमय अलङ्कारों का प्रयोग किया गया है। उन्मत्त हाथी की उत्प्रेक्षा में गङ्गा का वर्णन, लहरों के उत्ताल ताण्डव के सादृश्य से गोदावरी के हृदय की व्यथित विचार-तरङ्ग ; खलिहानों के उठने के अवसर के उल्लासमय सौन्दर्य में सिपाहियों का सादृश्य पुष्प-वाटिका में ठूँठ से तथा ललित-सङ्गीत में बेसुरी तान से दिखाना इसी प्रणाली में है।

इन कहानियों में दृश्यों का उल्लेख करके अथवा कहानी के कथानक से ही अपना अभिप्राय प्रकट करके लेखक नहीं रह गया। इन कहानियों में यह परिलक्षित होता है कि कथानक और पात्रों की गति-विधि से अपने जिस मूल अभिप्राय को वह व्यक्त करना

चाहता है उसके साथ सहानुभूति रखते हुए भी उसके दूसरे पहलू को विस्मृत नहीं करना चाहता। फलतः कितनी ही बातों की प्रासङ्गिक विवेचना भी इन कहानियों में आ गयी है। ये प्रासङ्गिक विवेचनाएँ, त्याग, प्रेम, न्याय, रिश्वत, सन्तान, मित्रता, उत्तरदायित्व, ईर्ष्या-संवेदना भलाई-बुराई, आत्मा का प्रकाश, सम्पत्ति के प्रभाव, देश-सेवा, शिक्षा-प्रणाली, आम तात्वील आदि की है।

त्याग—त्याग ही इनकी कहानियों में प्रधान है। त्याग अलौकिक है पर उसका अहसान केवल उसी व्यक्ति तक रहना चाहिए जिसके लिए त्याग किया गया है।

प्रेम—इन कहानियों में प्रेम ने उन्माद का रूप नहीं धारण किया, ये प्रेम कहानियाँ नहीं पर प्रेमचन्दजी ने प्रेम के जीवन व्यापी प्रभाव को इनमें भी स्पष्ट कराया है।

प्रेम का बन्धन कोमल भी होता है, और दृढ़ भी। अपमान के सामने वह कोमल है, टूटने को तय्यार। वियोग के सामने दृढ़ है। प्रेमचन्दजी मानते हैं कि सङ्कट-काल में प्रेम की सहानुभूति बड़ा भारी सहारा है।

न्याय—न्याय का पक्षपात से कोई सम्बन्ध नहीं। जहाँ पक्षपात है वहाँ न्याय की कल्पना भी नहीं की जा सकती। न्याय तो वह है जो खोटे को खोटा और खरे को खरा कहे।

रिश्वत—रिश्वत का एक पक्ष यह है जो उसे ईश्वरीय देन कहता है और मानता है कि इसी में वरकृत है। जिसने इसके अच्छे-अच्छे नाम रख लिए हैं—जैसे कमीशन, और इस नाम के साथ होने वाले काम को रिश्वत के पाप से अलग बताने की चेष्टा करता है : रिश्वत और कमीशन में बड़ा अन्तर है। रिश्वत लोक और परलोक दोनों का ही सर्वनाश कर देती है। उसमें भय है, चोरी है, बदमाशी है। मगर कमीशन एक मनोहर वाटिका है, जहाँ

न मनुष्य का डर है, न परमात्मा का भय । यहाँ तक कि वहाँ आत्मा की छिपा हुई चुटकियों का भी गुजर नहीं है । और कहाँ तक कहें इसकी ओर बदनामी आँख भी नहीं उठा सकती । प्रेमचन्दजी कहते हैं 'यह वह बलिदान है जो हत्या होते हुए भी धर्म का एक अंश है ।' रिश्वत लेना ही चाहिए, पर बाँट कर खाना चाहिए, अकेले हजम नहीं होती । रिश्वत देने वालों से ज्यादा अहमक अन्धे आदमी दुनियाँ में न होंगे । ऐसे अक्ल के दुश्मनों पर रहम करना हिमाकत है ।

संतान—संतान के प्रति प्रेम, संतान होने की इच्छा तो साधारणतः सभी में मिलती है, पर नये विचार इसके विरुद्ध हैं—

वे कहते हैं कि संतान होने से माँ-बाप की जिम्मेदारियाँ बढ़ जाती हैं । जब तक मनुष्य से यह सामर्थ्य न हो कि वह उसका भले प्रकार पालन-पोषण और शिक्षण आदि कर सके तब तक उसकी सन्तान से देश-जाति और निज का कुछ भी कल्याण नहीं हो सकता अतः ऐसी अवस्था में सन्तान पैदा नहीं करना चाहिए ।

मित्रता—मित्रता के लिए खान-पान का व्यवहार होने अथवा धर्म का नाता होने की आवश्यकता नहीं । मित्रता का मूलमंत्र है विचारों का मिलना । कुछ यह भी मानते हैं कि मित्र को मित्र का साथ हर अवसर पर देना चाहिए, उसे उसके लिए अन्याय पक्ष का भी समर्थन करना चाहिए । न्यायपक्ष का समर्थन कर मित्र से भिन्न मार्ग ग्रहण करने का अर्थ होगा धोखा देना । जो दोस्ती इस स्वार्थ के आधार पर खड़ी है वह बालू की दीवाल पर खड़ी है और सच्चाई के एक भोंके से टूट जायगी ।

उत्तरदायित्व—उत्तरदायित्व का ज्ञान होजाने पर मनुष्य की उच्छृंखलता दूर होजाती है । उसमें न्यायपरायणता, संयम और धैर्य आजाते हैं । जब तक उत्तरदायित्व का ज्ञान नहीं तभी तक

वह अव्यवस्थित चित्त रहता है ।

ईर्ष्या—ईर्ष्या मन में रहने वाला वस्तु नहीं । वह प्रकट होकर रहती है । ईर्ष्या में अग्नि है । परन्तु अग्नि का गुण उसमें नहीं । वह हृदय को फैलाने के बदले और भी संकीर्ण कर देती है । जिसके साथ उसे ईर्ष्या है उसके साथ हुए एक भी अच्छे कार्य से ईर्ष्या और भड़कती है । ईर्ष्या में मनुष्य ऐसे कार्य करने लगता है जो उसने कभी नहीं किये और जो उसे शोभा भी नहीं देते ।

संवेदना—वास्तविक संवेदना तो मलहम का काम करती है, पर भौतिक संवेदनायें अधिकाँश में उस मनोविकार से पैदा हुई हैं । जिसमें मनुष्यों को दूसरों की हानि और दुःख पर हँसने में विशेष आनंद आता है ।

भलाई-बुराई—जो वस्तु 'आर्थिकमोल' नहीं रखती वह भलाई हो तब भी बुराई समझी जायगी ।

आत्मा का प्रकाश—आत्मा है, और उसका प्रकाश होकर हमें सत्यमाग पर हटने से बचाता है । मनुष्य कभी कभी ऐसा झल भी करता है कि गलती गलती न मालूम हो और आत्मा की भी चुटकी का डर न रहे । रिश्वत को 'कमीशन' का नाम देने से जैसे आत्मा भुलावे में रखी जा सकती है ।

सम्पत्ति का प्रभाव—सम्पत्ति का प्रभाव अतुल्य है । कौन उसके आधीन नहीं, किम पर उसका जादू नहीं चलता !

देश-सेवा—देश-सेवा श्रेष्ठ वस्तु है, वह करनी चाहिये, पर देश-सेवक उसे भी विषाक्त कर देता है । सम्मान की कामना में, ईर्ष्या में, स्वार्थ में, ईमानदारी न रहने पर देश-सेवा बेकार है ।

शिक्षा-प्रणाली—अंग्रेजी शिक्षा से डिग्री तो मिलती है पर शरीर निर्बल और चेहरा कान्ति हीन हो जाता है । प्राचीन

शिक्षा-प्रणाली में विद्या को छोड़ कर गुरुसेवा ही प्रधान होजाती है।

आम तालीम—आम तालीम से जाहिलों की जहालत दूर नहीं करनी चाहिए फिर पुलिस वगैरः का स्वार्थ-साधन कैसे होगा ? संभवतः इसीलिये आलीफहम सरकार ने आमतालीम की स्क्रीम को नामंजूर कर दिया।

कहानी लेखक ने अपनी यथार्थता को अपनी धारणा की सीमाओं में रखा है। उसे कुछ बातें प्रिय नहीं—और उन बातों के लिये उसने अपनी धारणा को मिद्ध करने वाले उदाहरण ही यथार्थतः चित्रित किये हैं। साथ ही एक बात यह भी कह देना यहाँ आवश्यक है जो बातें कहानी लेखक को प्रिय नहीं वे प्रायः वही हैं जो साधारण जनों को प्रिय नहीं।

उदाहरणार्थ—पाश्चात्य शिक्षा। इस शिक्षा की संस्कृति पर लेखक को घोर असन्तोष है। वह समझता है इससे भारतीयता का विनाश होता है, ईसाइयत बढ़ती है। साथ ही यह शिक्षा मनुष्य को किताबों का कीड़ा बनाती है। मनुष्य मनुष्य नहीं रहता। नियमों का पोथा हो जाता है। वह मन के मोदक खाने में व्यस्त रहता है।

तत्कालीन प्रभा के व्यवस्था-विभाग (Administration departments and services) स भी उन्हें घोर असन्तोष था। वे सब को पुलिस का ही नहीं धन का चैरा और कर्त्तव्य से निश्चिन्त समझते थे। वर्तमान न्याय में भी उन्हें श्रद्धा नहीं।

अब हम इतनी विवेचना के पश्चात् कह सकते हैं कि इन कहानियों में आचरणों का आग्रह तथा भारतीयता के प्रति अनुराग भारतेन्दुकालीन उपन्यास प्रणाली से मिलती जुलती है जो राधाकृष्णदास के 'हिन्दू-माहात्म्य' और श्रीनिवासदास के 'परीक्षा गुरु' में मिलती है।

इन कहानियों में तत्कालीन साहित्य में अति प्रचलित ऐन्द्रिक प्रेम को जान बूझ कर बचाया गया है। ये कहानियाँ अपने अपने कामों में व्यस्त, मानव-जीवन की व्यावसायिक अवस्था की कहानियाँ हैं। इनमें उन्माद और विक्षिप्तता नहीं, नागरिक गृहास्थ जीवन के कर्तव्य-अकर्तव्य की समस्याएँ हैं।

ये समस्याएँ आचरण तक ही सीमित हैं, गहरे में उतर कर उनके (fundamentals) मूल-आधारों के शोध में प्रवृत्त नहीं हुईं। क्या है ? और कैसे है ? तक ही ये कहानियाँ हमें रखती हैं, क्यों है ?—इस प्रश्न को करने नहीं देती, और यदि अनायास ही यह उत्पन्न हो उठे—आखिर सज्जनता दण्डनीय क्यों ? समाज में यह धन का आतंक क्यों ? गुणों का निरादर क्यों ? लम्बे-लम्बे दीर्घकालीन आचरण सत्य के एक झोंके को भी नहीं सह सकते, तो क्यों ?

समाज इतना अजीर्ण और दूषित क्यों ? ऐसे प्रश्न तक कहानी लेखक नहीं पहुँचा, उमने ये प्रश्न उठाये ही नहीं। पर कहानियों को पढ़ते-पढ़ते हृदय में जन-साधारण की व्यापक हानताओं को देख कर यह प्रश्न उठ पड़ता है कि क्यों ? और वह अनायास ही उठ पड़ता है।

ये कहानियाँ परामर्श की कहानियाँ हैं—हमें कर्तव्य पालन करना चाहिए ; हमें गुणों का आग्रह और आदर होना चाहिए, ये परामर्श हैं, पर हल नहीं। ये कहानियाँ हल की कहानियाँ नहीं।

इन कहानियों में अँगरेजी शासन के जमाने और राष्ट्रीय जागृति के अङ्गड़ाई लेने के सन्धि-काल के वातावरण का गृह और जन-व्यापी चित्र मिलता है—जर्जरित विशृङ्खलित समाज है, जिसमें गुणों के प्रति मौलिक सहानुभूति भले ही हो क्रियाशील सहानुभूति नहीं ; जिसमें न्याय और न्याय चाहने वाले

का उपहास है, जो उस मनोवृत्ति का उद्गार है जो बल को ही न्याय (might को ही right) समझती है, जिसके समझ Right का (सत्य और न्याय का) कोई अस्तित्व नहीं रह गया। जिस समाज में सत्य और न्याय में श्रद्धा भले ही हो पर सत्य और न्याय में शक्ति नहीं रह गयी। यह रूढ़िग्रस्त समाज भारतीयता को प्रेम करती है पर भारतीयता क्या है यह नहीं जानती। इस समाज से ईमानदारी चली गयी है, अफसरों में दुष्साधन आ गया है, जन-प्रवृत्ति में दोष-चिन्तन; गुणार्जन का सर्वथा अभाव है। इसमें पाश्चात्य शिक्षा और फेशन छेद कर रही है। घरेलू जीवन के आधार भी बिगड़े हुए हैं। कहीं सम्मिलित कुटुम्ब की समस्या है तो कहीं सौतों से अशान्ति है। इस प्रकार यह सारा समाज जराग्रस्त, विश्रुंखलित ग्राम्य वातावरण से परिवेष्टित है।

निस्सन्देह यह कहानियाँ मध्ययुगीन मनोवृत्ति की परिचायक हैं। रूढ़ धारणाओं को ले कर चलने वाली मनोवृत्तियों के लिए रूढ़ सिद्धान्त ढूँढ लेने वाली। ईर्ष्या आदि के आन्तरिक तत्वों के विश्लेषण की चेष्टा तो है पर वह विश्लेषण वैज्ञानिक नहीं, उल्लेख और विवरण मात्र बन कर रह गया है।

पात्रों के चरित्रों में लोच नहीं। वे टूट जाने को तत्पर हैं, झुकने को नहीं। वे समझौता नहीं चाहते हैं, पर उनमें अपने आचरण पर दृढ़ रहने का साहस है, सारा संसार उनके विरुद्ध खड़ा होता दीखता है। इस लोच के अभाव के कारण ही इनके चरित्र की रेखाओं की उठान ऊँची नहीं हो पाती।

कहानियों में विकासावस्था

प्रारंभिक कहानियों में हमें जो तत्व मिलते हैं वे कुछ दूर तक आगे भी हमें मिलते चले जाते हैं—जमींदार और किसान प्रायः वही हैं पर वे अब उतने अधिक महत्व के भागी नहीं बने। कहानियों का वातावरण गाँवों का है पर नौकरी और शासन कर्मचारियों की ऊपरी आय के लिए उतना रोना-पीटना नहीं रहा। इन कहानियों में मिलने वाली तत्पर प्रत्युत्तर कथा प्रणाली का अवशेष भी किसी किसी कहानी में मिल जाता है, उदाहरणार्थ प्रारंभ में। आचरण की कहानियाँ भा हैं, पर एक-दो ही।

इन मोटी बातों को छोड़कर हमें दीखता है कि कहानियों का धरातल पहले की अपेक्षा बदला है और ऊँचा होगया है, और किसी किसी बात में तो बिल्कुल विपरीत होगया है। नये विषयों के संबंध में विचार करने से पूर्व यह देखना होगा कि प्रारंभिक कहानियों में जिन विषयों का लेखक ने लिया था, उनको इस दूसरी अवस्था में वह किस भाँति ग्रहण कर रहा है ?

पहले हमारी दृष्टि सम्मिलित कुटुम्ब के प्रश्न पर जानी है। सप्तसरोज की बड़े घर की बेटी की मृष्टि करके लेखक ने सम्मिलित कुटुम्ब की ओर आग्रह दिखाया है। उसमें सम्मिलित कुटुम्ब के लिए आवश्यक तत्व 'पारस्परिक प्रेम' हमें मिलता है और वहाँ आनन्दी स्त्री है पर समझदार है—समझदार इस अर्थ में कि वह स्वार्थ से बंधी नहीं। पर दूसरी अवस्था की कहानी शंखनाद है। इस कहानी में भी सम्मिलित कुटुम्ब की सबसे बड़ी कठिनाई को सामने रखा गया है, वह है कुटुम्ब के

सदस्यों की रुचि और स्वभाव में भिन्नता। साथ ही सदस्यों में गृह-संचालन के संबंध में उचित सहयोग का अभाव—दूसरे शब्दों में समान अधिकारी का अकर्मण्य होना, पर भोग में बढ़े होना। इसीलिए 'शंखनाद' का सम्मिलित कुटुम्ब जर्जरित है—बड़े भाई की स्त्री ने तभी यह कह दिया है—

“सहते-सहते हमारा कलेजा पक गया। बेटे की जितनी पीर बाप को होगी, भाइयों को उतनी क्या, उसकी आधी भी नहीं हो सकती। मैं तो साफ कहती हूँ—गुमान का तुम्हारी कमाई में हक है, उन्हें कंचन के कौर खिलाओ, और चाँदी के हिंडोले में भुलाओ। हममें न हतना बूता है और न इतना कलेजा।”

फिर पहला सम्मिलित कुटुम्ब विश्वास के आधार पर था, सदस्यों को उसमें उस प्रकार की कौटुम्बिक योजना में विश्वास था। यहाँ वह दुनियाँ की लाज और जगत हँसाई के डर से चल रहा है। यहाँ आनन्दी की भौंति स्त्रियाँ टूटते समय सहयोग देने को तत्पर नहीं बरन वे ही हैं जो तोड़ने में सहायक हो रही हैं।

जैसे लालबिहारी था वैसे ही—वरन उससे बढ़कर यहाँ गुमान है और इसका अन्य सदस्यों के पसीने पर गुलछर्रे उड़ाना ही ईर्ष्या का भड़काने का कारण हो जाता है। इस कहानी के द्वारा लेखक ने सम्मिलित कुटुम्ब की कठिनाइयाँ पर्याप्त उग्र रूप में उपस्थित कर दी हैं।

‘कानूनदाँ बितान उस (गुमान) के ये ठाट-वाट देखकर जल जाता। मैं सारे दिन पसीना बहाऊँ, मुझे नैनसुख का कुरता भी न मिले, यह अपाहिज सारे दिन चारपाई तोड़े, और यों बनठन कर निकले ! ऐसे वस्त्र तो शायद मुझे अपने ब्याह में भी न मिले होंगे। मीठे शान के हृदय में भी कुछ ऐसे ही विचार उठते थे। अन्त में जब यह जलन न सही गई, और अग्नि भड़की, तो एक दिन कानूनदाँ बितान की पत्नी गुमान के

सारे कपड़े उठा लाई, और उन पर मिट्टी का तेल उँडेल कर आग लगा दी ।

लेखक ने सम्मिलित कुटुम्ब का जर्जरता का अनुमान तो आरम्भिक कहानियों में भी कर लिया था, पर उसने चाहा था कि वह दूर हो और उसके लिए प्रेम और निस्वार्थ समझदार स्त्री की अवतारणा की थी । वहाँ सम्मिलित कुटुम्ब की प्रथा के प्रतिपादन में वह वास्तविकता को एक ओर कर मूल कारण पर लीपापोती कर गया था । यहाँ इस दूसरी अवस्था में आकर वह उसी मूल कारण को उपस्थित कर गया है । श्रम के अनुकूल भोग होने से ही सम्मिलित कुटुम्ब की आत्मा सुरक्षित रह सकती है—यहाँ हम स्पष्ट देखते हैं कि कहानी नैतिक (Moral) धरातल से आर्थिक धरातल पर आ पहुँची है ।

बड़े घर की बेटी में भी अलाग्यौमे का प्रश्न उपस्थित हुआ है—पर उसका आधार यह तर्क है :—

‘कोई एक की दो कह ले यहाँ तक मैं सह सकता हूँ, किन्तु यह कदापि नहीं हो सकता कि मेरे ऊपर लात-घूँसे पड़े, और मैं दम न माऊँ । “’

‘.....जिस स्त्री की मान-प्रतिष्ठा का मैं ईश्वर के दरबार में उत्तरदाता हूँ, उसके प्रति ऐसा बोर अन्याय और पशुवत व्यवहार मुझे असह्य है ।’

और इस तर्क की भूमि शुद्ध नैतिक है, आर्थिक नहीं । लेखक चाहता तो वह आर्थिक बना सकता था क्योंकि लालबिहारो के चरित्र की रेखायें बहुत हद तक गुमान के समान गई हैं । श्रीकठ परिश्रमी और कमाऊ है ही, यह होते हुए भी वहाँ तक लेखक नहीं गया, अतः यह नहीं कहा जा सकता कि वह सम्मिलित कुटुम्ब की नैतिक और आर्थिक दो पहलुओं से समस्या समझ रखना चाहता है; नहीं आरम्भिक कहानी में वह

धरातल पर ही है—नैतिक ही है। सम्मिलित कुटुम्ब के आर्थिक मूलाधार को उसने दूसरी अवस्था में ही अपनाया है, और इस सीमा तक वह (Realism) यथार्थता की ओर विशेष अग्रसर हो गया है।

सम्मिलित कुटुम्ब पर विचार करने के उपरान्त, गृह-दम्पति में पहले की कहानियों और बाद की कहानियों में एक विशेष अन्तर परिलक्षित होता है। पहली कहानियों में हमें पुरुष उचित का पक्ष करता—नहीं उसका आचरण करता मिलता है। उसकी स्त्री उसका विरोध करती है, भले ही वह कमजोर विरोध हा हो। पर यहाँ स्थिति बदल गयी है। स्त्री में उचित के लिए आग्रह आ गया है, पुरुष आदर्श से हट कर अवसर-वादी बन गया है। स्त्री-पुरुष अपनी-अपनी सत्ता को एक दूसरे से अलग तो बनाये हुए हैं, पर जैसे उन्होंने अपने-अपने पैंतरे बदल लिये हैं। मूठ में डाक्टर साहब की कंजूसी से उनके घर को असन्तोष है, आरवे स्त्रियाँ कहीं-कहीं ही नहीं, बहुधा पति के उचित पक्ष के साथ चली हैं, और पुरुष के अनौचित्य अथवा अवसरवादिता के कारण ही उनका सङ्घर्ष स्पष्ट हो गया है। ब्रह्म का स्वांग, शान्ति, नैराश्य लीला आदि में स्त्री की यह अवस्था स्पष्ट होती है। पहली कहानियों में स्त्रियाँ थीं ही बहुत कम, जो थीं वे कहानी में आज देने का साधन भर बन कर आयीं थीं, या पात्र के चरित्र का दूसरा पहलू रखने के लिए थीं। इन कहानियों में उनका स्वतन्त्र मान हो उठा है, वे साधन-मात्र होकर गौण स्थिति में इस दूसरी अवस्था में आ कर खड़ी नहीं हुई, अब कहानियाँ उन्हीं के लिए, उनसे सम्बन्धित समस्या के लिए, अथवा उनके द्वारा उत्पन्न किसी प्रश्न के लिए खड़ी की गयी हैं। 'सौत' में अवश्य ही जो प्रश्न लेखक के सम्मुख था वह प्रधानतः स्त्री सम्बन्धी ही था; इससे प्रतीत होता है कि पहली अवस्था में भी स्त्रियों के कौटुम्बिक जीवन पर उनकी कुछ

गम्भीर दृष्टि पड़ गयी थी वे 'सौत' के कारण होने वाले मान-सिक और गार्हस्थिक परिवर्तनों को सूक्ष्मता से लिख सके हैं। किन्तु फिर भी इस दूसरी अवस्था की कहानियों में 'सौत' फिर नहीं आयी। सौत का लड़का उपस्थित हुआ है, और 'सौत' विमाता के रूप में प्रकट हुई है।

पहली अवस्था में कहानीकार के समस्त रिश्तों की धुन विशेष प्रबल दिखालाई पड़ती है। विविध पात्र रिश्तों के सम्बन्ध में बहुत जोर-शोर दिखाते हैं। रिश्तों के पक्षपाती उसके लिए विविध तर्क देते हैं। रिश्तों लेने वाले यहाँ अत्यन्त मुखसे हैं। किन्तु जो आचरण के मन्त्र हैं, उन्होंने उसका आचरण से विरोध किया है, शब्दों से नहीं। यहाँ रिश्तों का विरोध अपने आचरण और विचार से करने वाला वही व्यक्ति है जिसे रिश्तों दी जाती हैं। धन के आतङ्क और प्रभाव का साधन 'रिश्तों' का रूप ही लेकर कहानीकार के समस्त इन कहानियों में आया है। रिश्तों का इतना प्राधान्य करके पात्रों का भेदाचार-शूरता दिखाने, समाज के वृत्तिभोगियों की और समाज की दूषित मनोवृत्ति को चित्रित करने, रिश्तों की गहराई से प्रत्येक विभाग के आक्रान्त होने के चित्र-मात्र दिखाये गये हैं, जैसे लेखक रिश्तों के सम्बन्ध में ज्ञान भर कराना चाहता है। दूसरी अवस्था की कहानियों में कुछ और ही रूप है। रिश्तों का भय-सा नहीं रह गया। रिश्तों लेने वाला लेता है, देने वाला देता है—लेने वाले और देने वाले में अब संघर्ष नहीं। रिश्तों के समस्त अड़ कर अपने चरित्र का शौर्य दिखाने वाला अब कोई पात्र नहीं। चरित्र का शौर्य श्लाघ्य, आदर्श कहा जा सकता है; पर यहाँ वह बाह्य है। दूसरी अवस्था में लेखक रिश्तों से व्यक्तिगत पतन की कहानी तो 'विषम-रूमत्या' में उपस्थित करता है और 'डिग्री के रुपये' में उसका जातिगत प्रभाव स्पष्ट करता है। पहली अवस्था

की कहानियों में 'न लेने' को अवस्था का दिग्दर्शन है, दूसरी में 'ले लेने' और 'दे देने' के बाद की अवस्था का चित्रण है। विषय लेने पर क्या होता है, इसकी संक्षिप्त मीमांसा दूसरी अवस्था की कहानियों में आ गई है।

चरित्र के शौर्य की बात ऊपर आई है। पहली अवस्था की कहानियों में यह शौर्य प्रधानतः आचरण का स्थूल शौर्य है—कहानी का नायक अटल चट्टान बन गया है, जिसमें प्रलोभन की लहरें टकराती हैं। दूसरी अवस्था के शौर्य में आचरण की अपेक्षा चरित्र का विशेष समावेश हुआ है। शौर्य के लिए अटलता जड़ अटलता नहीं, चैतन्य अटलता है। विचार संघर्ष के उपरान्त होने वाले संकल्प की अटलता है। यहाँ शौर्य सूक्ष्म हो चला है। जहाँ यह अटलता या शौर्य स्थूल भी है, जैसे 'पछतावा' में, वहाँ उसका विषय बदल गया है। प्रलोभन के प्रति अटलता नहीं, कर्तव्य-परायणता भर नहीं, उससे आगे जन-सेवा, कर्तव्य में अतिरिक्त सेवा के सम्बन्ध में वह स्थूल शौर्य प्रदर्शन किया गया है। दूसरे शब्दों में पहली कहानियों का शौर्य अष्ट आचरण में बचने के लिए था और व्यक्ति-परक था, वही इन कहानियों में वह अत्याचार के विरोध में प्रदर्शित किया गया है।

प्रेमचन्द की आरम्भिक कहानियों में जन-जागृति का प्रथम रूप है। आरम्भिक समझायें लेकर वे खड़ी हुई हैं। पूर्व की सब कहानियाँ 'होने योग्य' (a state of to be) के मंत्र पर जमी हुई क्रान्ति के प्रथम चरण के बीजों से गर्भित होने पर भी वे शासन (Administration) के उस अश से सम्बन्धित हैं जो सीधे जन-संपर्क में आता है, जिसके द्वारा शासन-सूत्र की भावमयी दूरस्थ नीति का परिचय जनता को मिलता है, और जिसके द्वारा ही अनाचार और अत्याचार का ज्ञान होता है।

यही कारण है कि इन कहानियों में 'नौकरी' से सम्बन्ध रखने वाली कहानियाँ प्रधान हैं, अथवा किसान-जमींदार सम्बन्ध को किसी न किसी रूप में प्रकट करने वाली। राज्य की नौकरियाँ वे हैं जो निम्नतम श्रेणी की हैं।

दूसरी अवस्था की इन कहानियों में ऐसे राज-कर्मचारियों का अभाव हो गया है। वे अब 'a state of to be' 'होने योग्य' के तत्व पर नहीं खड़ी, इन राजकीय शासन-क्षेत्रों में अटल चरित्र के व्यक्ति को वे आजमा चुके हैं, और उन्हें 'उपदेश' कहानी के 'दारोगा' की बातों पर विश्वास हो गया है कि 'मुलाजमत करके रिश्वत न लेना मुहाल है।' वे जान चुके हैं कि उनके जैसे चरित्रों का बस एक ही मार्ग है—वह है सम्बन्ध-विच्छेद। झुकना वे नहीं चाह सकते। अतः अब आगे की कहानियाँ 'जो है' (a state of that is) को ही इस सम्बन्ध में बतला कर रह गई है। वह भी कहीं-कहीं जैसे 'शिकारी राज-कुमार' में अथवा 'डिप्टी के रुपये' में। और साथ ही इन कहानियों का वृत्त शासन के आधार में शौर्य से हटकर व्यक्ति के आन्तरिक भाव से सम्बद्ध आचार के साधुर्य के केन्द्र पर सध गया है। 'A state of to be' में जो जड़ कर्तव्य की कसौटी ही कसौटी थी वह यहाँ लेखक के हाथ से छूट गयी है, और उसके कर्तव्य को 'जो है' उसके साथ दिखा कर जो होने योग्य है' वह क्यों है, के (conscientious) चेतना-प्रधान क्षेत्र में पहुँचा दिया है। इस धरातल पर पहुँचने पर 'नौकरी' का क्षेत्र इस विविध व्यापार व्यवसाय मय-जीवन में अत्यन्त छोटा रह जाता है।

ये कहानियाँ, जो दूसरी अवस्था की हैं, आचरण की कहानियों से (motive) प्रेरक बुद्धि की कहानियाँ बन गई हैं। इन कहानियों में इसी कारण आचरण की भाँकियों के स्थान

पर पात्रों के मानस की भाँकियाँ अधिक आ गई हैं, अथवा दूसरे शब्दों में ये कहानियाँ आचरण की व्याख्या बन गई हैं। फलतः कहानीकार उनके द्वारा गहरे में उतरने की चेष्टा करता प्रतीत होता है, और 'जो है' (Fundamental) पर भी दृष्टि-पात कर लेना चाहता है। उनके लिए वह 'घर' और 'शासन' की निम्न श्रेणी तक ही नहीं रह गया—उसका कहानियों में कई मोर्चे यहाँ लगे हुए प्रतीत होते हैं—वे मोर्चे हैं, घर और शासन के स्थूल साधारण धरातल से ऊपर। वे सब मोर्चे कहानियों के कथानक के आधार-भूत होकर नहीं आये हैं, वे आये हैं कहानी के पात्रों के विचारों और तर्कों के अङ्ग बनकर; अथवा आचरण की बौद्धिक प्रेरणा का रूप ग्रहण कर।

कहानियों के कथानक के आधार-भूत वही तत्व कहे जा सकते हैं जो उसके रूप-विन्यास में विद्यमान हों। उसके रूप-निर्माण के लिए आवश्यक भाँ हैं। कथानक में स्वयं ही जो एक तीलो बना हुआ हो वही तत्व उसका आधारभूत कहा जायगा। जो तत्व ऐसा नहीं है, पात्रों के विचारों का परिचायक, विकासक—उनके चरित्र का अंग भी भले ही हा, अथवा उनके आचरणों से संबंध रखता हो, कहानी के कथानक का आधारभूत नहीं कहा जायगा। वस्तुतः कथानक कहानी की पृष्ठभूमि है, अथवा भूमिका है, कथानक कहानी की रीढ़ भर है, ढाँचा जिसे कहते हैं वह है, उससे कहानी नहीं बनती, केवल आकार प्रकार बनता है, कथानक कहानी का साधन है, हाँ, अनिवार्य अवश्य है और इसी कारण दोनों में तादात्म्य नहीं तो एक का दूसरे में बिसर्जन अवश्य मिलता है। कथानक जितना कहानी मय है, उतनी ही कहानी ऊँची उठ जायगी। कहानी की अपेक्षा जह कथानक महत्वपूर्ण हो उठेगा वहाँ मनुष्य कंकाल की भाँति वह

प्रवंचनीय हो जायगा। कथानक के आधार पर कहानी अपने पात्रों के चरित्रों के तारतम्य से अपने रूप को प्रस्फुटित करती है। अतः कथानक के निर्माण के तत्व, कहानी के मूलतत्वों से कुछ भिन्न ही पड़ेंगे। प्रेमचंद जो ने इस दूसरी अवस्था की कहानियों में जो मोर्चे उपस्थित किये हैं वे कहानियों के कथानक के अंग नहीं हुए। उदाहरणार्थ 'पशु से मनुष्य' नाम की कहानी में सहकारिता और साम्यवाद को लेकर वर्तमान व्यवस्था की (Possession is power) ऐश्वर्यमय प्रवृत्ति के विरुद्ध मोर्चा लिया गया है। पर कहानी के कथानक में इसका प्रवेश नहीं हुआ— एक मालो डाक्टर साहब के बाग में चोरी करता है, पर प्रेमशंकर के यहां जाकर वही पशु से मनुष्य बन जाता है। वहाँ बाग में काम करता है, पर किसी शिकायत का अवसर नहीं देता। कथानक का मूल रूप यही है। इसमें सहकारिता अथवा साम्यवाद का प्रवेश कथानक की व्याख्या में होता है—क्यों चोरी की, फिर क्यों परिवर्तन होगया ?

यह होते हुए भी लेखक ने विभिन्न समस्याओं का समावेश किया है।

सबसे पहले 'साम्यवाद' का प्रश्न सामने आता है। पशु से मनुष्य, लाल फीता, बैंक का दिवाला, ब्रह्म का स्वाँग, हार की जीत, आदि कहानियों में साम्यवाद का उल्लेख हुआ है। पशु से मनुष्य कहानी को छोड़कर अन्य कहानियों में साम्यवाद प्रसंग वशात् ही आया है। उसके लिए पूरा तर्क (argument) दिया गया है। वह प्रश्न यों उठ खड़ा होता है; मनुष्य चोरी क्यों करता है ? अन्यायपूर्ण असमनता से। यदि मनुष्य मनुष्य में 'पशु से मनुष्य' में अन्यायपूर्ण असमनता न हो, कोई नाकर कोई मालिक न हो तो वर्तमान अवस्था का अभिशाप शान्त हो जाय। जहाँ कोई मालिक

होता है और दूसरा उसका नौकर तो उन दोनों में तुरन्त द्वेष पैदा होजाता है। मालिक चाहता है कि इससे जितना काम लेते बने लेना चाहिए। नौकर चाहता है कि मैं कम से कम काम करूं। इस शोषण (Exploitation) और पलायन (Escape) के भाव की प्रतिक्रिया यह होती है कि “उस (व्यवहार) में स्नेह या सद्मानुभूति का नाम तक नहीं होता। दोनों यथार्थ में एक दूसरे के शत्रु होते हैं।” फलतः आज मोंटे और पतले आदिमियों के प्रथक-प्रथक दल बन गये हैं, उन दलों में घोर संग्राम है।

इस अन्यायपूर्ण असमता ने बड़ा विषम रूप धारण कर रखा है। इसी समाज में एक ऐसा व्यक्ति भी है जिसे पाँच रुपये देना ही पर्याप्त समझा जाता है; यही दूसरा ऐसा व्यक्ति भी है जिसके पास पाँच लाख भी कम समझे जा रहे हैं। समाज ऐसे अन्तर का तिरस्कार नहीं करता वरन और भी अधिक प्रशंसा करता है। मजदूर और मानसिक काम करने वाले अलग अलग छूट गये हैं। जो लोग उद्योग-धंधों में लगकर जीवन की सामग्रियाँ पैदा करते हैं, जिन पर जीवन का अवलंबन है वे उन पेशे करने वालों से नीचे समझे जाते हैं जिनका काम केवल मनोरंजन या, अधिक-से-अधिक, धनोपार्जन में सहायता करना है। इस प्रकार यह उत्पादक (Producing) तथा अनोत्पादक (Unproducing) वर्ग बन गये हैं। शिक्षित वर्ग शासन-प्रबंध, वकालत, चिकित्सा, चित्र रचना, शिक्षा, दलाली, व्यापार, संगीत आदि अन्य अनेकों कलाओं पर जीविका के लिये निर्भर करता है, पर इनमें से एक भी धनोपार्जन नहीं करती ये अनोत्पादक वर्ग हैं। ये यदि न भी रहें तो जीवन की प्रगति नहीं रुक सकती। इन कलाओं को अपनाने वाला शिक्षित वर्ग इसी कारण निकम्मा और अनर्थकारी हो गया है। इस वर्ग ने धन को प्रधानता दे रखी है, जिससे हमारा समस्त

समाज उलट-पुलट गया है। “बस, हमारी सारी विद्या और बुद्धि, हमारा सारा उत्साह और अनुराग, धन-लिप्सा में प्रसित है। हमारे प्रोफेसर साहब एक हजार से कम वेतन पायें तो उनका मुँह ही नहीं सोधा होता ! हमारे दीवान और माल के अधिकारी लोग दो हजार मासिक पाने पर भी अपने भाग्य को रोया करते हैं। हमारे डाक्टर साहब चाहते हैं कि मरीज मरे या जीये ; मेरी फीस में बाधा न पड़े और हमारे वकील साहब ईश्वर से मनाया करते हैं कि ईर्ष्या और द्वेष का प्रकोप हो और मैं सोने की दीवार खड़ी कर लूँ। ‘समय धन है’ इसी वाक्य को हम ईश्वर वाक्य समझ रहे हैं। इन महान पुरुषों में से प्रत्येक व्यक्ति सैकड़ों नहीं हजारों लाखों गरीबों की जीविका हड़प जाते हैं। ... पैदा दूसरे करें, पसोना दूसरे बहावें, खाना और मूछों पर ताव देना इनका काम है।

इस विषमता को सहकारिता से मिटाया जा सकता है पर सहकारिता का अर्थ (Division of labour) श्रम-विभाजन के मूल तत्त्व की अवहेलना करना नहीं ! जिसमें ‘परमात्मा’ ने जो शक्ति दी है उसका वह अवश्य विकास करे, पर भिन्न कार्यों की हैसियत में यह फर्क क्यों हो ? मानसिक और औद्योगिक कामों में इतना फर्क न्याय के विरुद्ध है। यह प्रकृति के नियमों के प्रतिकूल ज्ञात होता है कि आवश्यक और अनिवार्य कार्यों पर अनावश्यक और निवार्य कार्यों की प्रधानता हो।

इस साम्य से गुणी लोगों का अनादर नहीं हो सकता। पहले तो संसार के बड़े से बड़े पण्डित, बड़े-से-बड़े कवि, बड़े-से-बड़े आविष्कारक, बड़े-से-बड़े शिक्षक धन और प्रभुता के लोभ से मुक्त पाये गये हैं। इस धन-लोभ के कारण अनेकों अयोग्य (Incapable) तथा छली मनुष्य इन कलाओं को जीविका का साधन बनाने के लिए इन्हें दूषित कर रहे हैं। जो कवि नहीं वह भी

कवि बनने चल दिया है। और ये सभी बलान् बने हुए कवि और शिक्षक पृथ्वी पर भार-रूप हो रहे हैं। जो स्वभावतः कवि है, वही कवि बने तो उसका अनादर न होगा। आदर और अनादर को धन की मात्रा से नहीं नापना होगा। जो तकिया गद्दी लगाये बैठा रहे, हाथ पैर न हिलाये, और लेन-देन पर, सूद-बट्टे पर लाखों के बारे न्यारे करता हो... हम उसी को प्रतिष्ठा के योग्य समझते हैं— और यही भूल है।

इस प्रकार सहकारिता में ही कल्याण है। सहकारिता ही न्याय और धर्म के अनुकूल ठहरती है। यहाँ लेखक अपने प्रतिपादित सहकारिता के सिद्धान्त को 'सोशलिस्टों' से अलग कर देता है। वह केवल 'नाम' के विवाद से बचने के लिए नहीं बरन मौलिक अन्तर के कारण। वह मौलिक अन्तर यही है कि 'सोशलिस्टों' की स्कीम में भी धन और स्वार्थ का प्राधान्य है। वे विषमता को शक्ति और बल से मिटाने में भी कोई क्षोभ नहीं करते, पर लेखक धन और स्वाथ को महत्व न देकर 'न्याय और धर्म' की शरण लेता है। स्वेच्छा को साधन मानता है, हृदय-परिवर्तन (Conversion) में विश्वास दिखाता है, शक्ति अथवा बल प्रयोग में नहीं। वह यह भी मानता है कि समाज का चक्र साम्य से आरम्भ होकर फिर साम्य पर ही समाप्त होता है। एकाधिपत्य, रईसों का प्रभुत्व और वाणिज्य-प्राबल्य, उसकी मध्यवर्ती दशाएँ हैं। वर्त्तमान चक्र ने मध्यवर्ती दशाओं को भोग लिया है और वह अपने अन्तिम स्थान के निकट आता जाता है।" साम्य होगा ही। प्रकृति की परिस्थितियों में होने वाला परिवर्तन स्वयं साम्य को ला उपस्थित करेगा।

साम्यवाद का यह आकर्षक रूप रख देने के बाद लेखक ने एक गहरी आपत्ति उपस्थित करदी है कि 'यूजेनिक्स' (सुप्रजा-जनन-शास्त्र) अभी तक किसी ऐसे प्रयोग का आविष्कार नहीं

कर सका है, जो जन्म के संस्कारों को मिटा दे ! अभिप्राय यह है कि साम्य का मिद्धान्त जन्मज-संस्कारों या पैतृक-संस्कारों का शोध नहीं कर सकता । उपार्जित अपराध-प्रवृत्ति परिस्थितियों का परिणाम है ; पर जन्मज अपराध-प्रवृत्ति भी होती है वह साम्य-वाद से ठीक नहीं हो सकती ।

साम्यवाद के प्रश्न के अन्तर्गत ही शिक्षा और सभ्यता का प्रश्न उठ खड़ा हुआ है । पाश्चात्य-सभ्यता और उसका प्रसार करने वाली वर्तमान शिक्षा-प्रणाली पर लेखक ने पहले तो मूलतः नैतिक आक्षेप किया था, और उस प्रणाली से होने वाली शारीरिक हीनता का भी आभास दिया था, पर पात्रों में उस शिक्षा-प्रणाली से प्राप्त सभ्यता का मोह और दम्भ नहीं था । इस दूसरी कंठि की कहानियों में मोह और दम्भ के भी सजीव चित्र हैं, और इस शिक्षा और सभ्यता पर किये गये आक्षेपों का आधार भी केवल नैतिक नहीं रह गया—वह सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक तन्तुओं का बन गया है ।

‘शान्ति’ में मोह और दम्भ का चित्र है, सजीव । पाश्चात्य सभ्यता के कई तत्वों का इस कहानी में समावेश हुआ है:—

एक है पाश्चात्य लेखकों की गुण-गाथा, और भारतीय लेखकों की निन्दा । अपने साहित्य के सम्बन्ध में हीनता-भाव-मण्डल । रामायण के सम्बन्ध में यह कथन है :—

‘इसमें शक नहीं कि पुस्तक बहुत ही अच्छी, भावों से भरी हुई है, लेकिन इसमें मानव-चरित्र को वैसी खूबी से नहीं दिखाया गया जैसा अँगरेज या फ्रांसीसी लेखक दिखाते हैं । योरुप में आजकल ‘स्वाभाविकता’ (Realism) का जमाना है । वे लोग मनोभावों के उत्थान-पतन का ऐसा वास्तविक वर्णन करते हैं कि पढ़ कर आश्चर्य होता है । हमारे यहाँ कवियों को पग-पग पर धर्म तथा नीति का ध्यान रखना पड़ता है, इसलिए कभी-कभी

उनके भावों में अस्वाभाविकता आ जाती है, और यही त्रुटि तुलसीदास में भी है।'

दूसरे स्त्रियों के विषय में, उनके रहन-सहन, उनकी शिक्षा, उनके विचारों के दक्षियानूसी-पन पर असन्तोष। पर्दा-प्रथा और गृह-जीवन की सीमा का उल्लङ्घन कर क्लृप्त-जीवन की ओर, पाश्चात्य सभ्यता के चमकते आकर्षण की ओर दौड़ :—

'स्त्रियाँ केवल भोजन बनाने, बच्चे पालने, पति की सेवा करने और एकादशी का व्रत रखने के लिए नहीं हैं। उनके जीवन का लक्ष्य उससे बहुत ऊँचा है। वे मनुष्य के समस्त सामाजिक और मानसिक विषयों में समान रूप से भाग लेने की अधिकारिणी हैं। उन्हें मनुष्यों की भाँति स्वतन्त्र रहने का भी अधिकार प्राप्त है।'

तीसरे, धर्म के आध्यात्मिक आधार की आलोचना : शान्ति के बाबूजी अधुनातन पाश्चात्य-सभ्यता-दर्शनी मनुष्य के प्रतीक है :—

'वह भगवद्गीता की अत्यन्त प्रशंसा करते पर उसका पाठ कभी न करते थे। उपनिषदों की प्रशंसा में उनके मुख से मानो पुष्प-वृष्टि होने लगती थी; पर मैंने उन्हें कभी उपनिषद् पढ़ते नहीं देखा—' अभिप्राय यह है कि इन भारतीय ग्रन्थों की प्रशंसा के शब्द भी उनके उधार लिए हुए थे, अपने निजी अनुभव पर ठहरे हुए नहीं थे।

'वह हिन्दू-धर्म के गूढ़ तत्व-ज्ञान पर लट्टू थे, पर इसे समया-नुकूल नहीं समझते थे। विशेष कर वेदान्त को तो वह भारत की अवनति का मूल-कारण समझते थे। वह कहा करते कि इसी वेदान्त ने हमें चौपट कर दिया, हम दुनियाँ के पदार्थों को तुच्छ समझने लगे, जिसका फल अब तक भुगत रहे हैं। अब उन्नति का समय है। चुपचाप बैठे रहने से निर्वाह नहीं। सन्तोष ने ही भारत को गारत कर दिया '

चौथे पाश्चात्य-सभ्यता के मूल-सिद्धान्त 'आवश्यकता वृद्धि' का प्रदर्शन :—

‘भूल जाओ कि हम लोग निर्धन हैं, फिर लक्ष्मी हमारे पास दौड़ी आवेगी। खर्च बढ़ना, आवश्यकताओं का अधिक होना ही द्रव्योपार्जन की पहली सीढ़ी है। इससे हमारी गुप्त शक्तियाँ विकसित हो जाती हैं, और हम उन कष्टों को भेलते हुए आगे पग धरने के योग्य होते हैं, सन्तोष दरिद्रता का दूसरा नाम है।’

इसी के साथ भोग-वृद्धि का तत्व है :—

‘ईश्वर को हमारी उपासना की इच्छा नहीं। उसने हमें उत्तम-उत्तम वस्तुएँ भोगने के लिए ही दी है। उन्हें भोगना ही सर्वोत्तम आराधना है।’

पाँचवे, इन सब का एक प्रदर्शन-स्थल, क्लब, और वहाँ की अवस्था-व्यवस्था का चित्र यह है : शांति कहती है :—

‘अन्त को मैंने क्लब में जाकर दम लिया। पहले यह टेनिस और क्लब मुझे तमाशा-सा मालूम होता था, मानो वे लोग व्यायाम के लिए नहीं, बल्कि फैशन के लिये टेनिस खेलने आते थे। वे कभी न भूलते थे कि हम टेनिस खेल रहे हैं। उनके प्रत्येक काम में, झुकने में, दौड़ने में, उचकने में एक कृत्रिमता होती थी, जिससे यह प्रतीत होता था कि इस खेल का प्रयोजन कसरत नहीं, केवल दिखावा है।

‘क्लब में इससे भी विचित्र अवस्था थी। वह पूरा स्वांग था, भद्दा और बेजोड़। लोग अंगरेजी के कुछ चुने हुए शब्दों को प्रयोग करते थे, जिनमें कोई सार न होता था; नकली हँसी हँसते थे, जिसका कोई अवसर न होता था। स्त्रियों की वह फूहड़ निर्लज्जता और पुरुषों की वह भाव-शून्य स्त्री-पूजा मुझे तनिक भी न भाती थी। चारों ओर अंगरेजी चाल-ढाल की एक हास्य जनक नकल थी।’ और इस सभ्यता का छठा तन्तु है स्वेच्छा-

चारिता से उत्पन्न हृदय-हीनता। जब 'शान्ति' अपने पति की मृत्यु की शोकमय कल्पना का भी मन-ही-मन आनन्द उठाने लगती है, यह विचारने लगती है कि मर जाने पर किस प्रकार के वस्त्र पहन कर अर्थी के साथ जायगी, संवेदनाओं का किस प्रकार उत्तर देगी—

और इस पाश्चात्य सभ्यता की इन सब प्रवृत्तियाँ पूर्ण, आकर्षण और लोलुपता पूर्ण बातों की आलोचना, इनके प्रति विद्रोह इन शब्दों में प्रकट हुआ है—बाबूजी कहते हैं—

'मैंने अपने को इस हंटरजाल से निकालने का निश्चय कर लिया है, जहाँ धन का नाम मान है, इन्द्रिय-लिप्सा का सभ्यता और भ्रष्टता का विचार-स्वातंत्र्य।'

इस सभ्यता से आत्मिक बल का विनाश होता है, कर्तव्य भूल जाया जाता है। पाश्चात्य सभ्यता के आधिक्य का फल छिछोरापन, निर्लज्जता, दिखावा और स्वेच्छाचार है। तो पाश्चात्य-सभ्यता और शिक्षा की इस सब आलोचना का आधार 'चांगित्रिक' है।

इसके आर्थिक दृष्टिकोण को भी प्रेमचन्द ने उपस्थित किया है। वे यह मानते हैं कि 'विदेशी सभ्यता का निकृष्टतम स्वरूप यह है कि देश का बुद्धि-बल स्वयं धनोपार्जन न करके दूसरों की पैदा की हुई दौलत पर चैन करना, शहद की मक्खी न बनकर चींटी बनना, अपने जीवन का लक्ष्य समझता है।'

यह 'चींटी' क्या है? सीधे शब्दों में अपहृत करने वाली—और अपहरण शोषण से कुछ ही भिन्न है। किन्तु 'अपहरण' से भी अधिक 'चींटी' में 'उत्पादन का अभाव' मिलता है। वह उत्पादन नहीं कर सकती। शिक्षित वर्ग भी स्वयं उत्पादन नहीं कर सकता।

निश्चय ही ऐसा व्यक्ति जो उत्पादन नहीं कर सकता, अपने

अस्तित्व के लिए दूसरों के उपार्जन पर निर्भर करेगा, उसे विषमताओं का सामना करने की भावना, तथा भविष्य-चिन्ता स्वार्थी भी अधिक बना देगी। प्रेमचन्दजी समझते हैं कि शिक्षा का उद्देश्य केवल 'धन कमाना है।' ❀ यह उद्देश्य पाश्चात्य-प्रणाली के कारण हुआ है—'जिस प्रकार भूमिवाले अपनी भूमि को, व्यापारवाले अपने व्यापार को भोग-विलास का साधन बनाते हैं उसी प्रकार विद्वान लोग भी अपनी विद्या और सिद्धि को इन्द्रियों के सुख पर बलिदान करते हैं।' विद्वज्जन अपनी विद्या और योग्यता को मोतियों के तौल बेचते हैं। इस प्रकार शिक्षा-प्रणाली से स्वार्थ और विलास की वृद्धि होती है, इस प्रकार शिक्षित वर्ग धनियों और भूपतियों के साथ ही गिना जाता है। कारण स्पष्ट है, जो जितना ही बड़ा विद्वान है वह उतना ही बड़ा स्वार्थसेवी है। हमने विद्या और बुद्धि-बल को विभूति-शिखर पर चढ़ने का मार्ग बना लिया है। हमारे प्रोफेसर साहब एक हजार से कम वेतन पायें तो उनका मुँह ही नहीं सीधा होता। समस्त शिक्षित समुदाय निकम्मा ही नहीं, वरन् अनर्थकारी भी है।। स्वयं धन उपार्जन बिना किये दूसरों की कमाई पर निर्भर करने वाले व्यक्तियों का जीवन अस्वाभाविक जीवन है। ऐसी विषमताएँ इससे उत्पन्न होती हैं जो समाज-व्यवस्था को न्याय्य नहीं रहने देती।

आधुनिक शिक्षा का आधार वैज्ञानिक प्रणाली है, जो मनुष्य को नास्तिक बना देती है। मनुष्य में ईश्वर पर श्रद्धा ही नहीं रहती।

समाज में 'साधारणतः भारतीय समाज' में इन शिक्षकों का एक वर्ग अलग बन जाता है। उन्हें सर्व साधारण और उनके

आचारों से घृणा हो जाती है। अपने से छोटी श्रेणी के लोगों से बोलने में वे अपना अपमान समझते हैं। नौकरों को अपना नौकर समझते हैं। उनसे अलग रह कर अपना रौब जमाने की उन्हें चिन्ता रहती है। वे यह चाहते रहते हैं कि उन्हें साहब समझा जाय। यह वर्तमान शिक्षा निर्बलों को सताने के लिए तय्यार करती है, धरती और धन का गुलाम बनाती है, भोग-विलास में डुबाती है, दूसरों का रक्त पीकर मोटा होने को इच्छुक बनाती है। यह भ्रष्टता है। ऐसे शिक्षित वर्ग में 'वकीलों' से लेखक को सबसे अधिक चिढ़ है। उन्होंने ईश्वरचन्द्र से इस पेशे की निन्दा कराई है; वे कहते हैं;

‘मुझे वकालत का पेशा ही पतित प्रतीत होता है। ज्यों-ज्यों वकीलों की आंतरिक दशा का ज्ञान होता है, मुझे उस पेशे से घृणा होती जाती है। इसी शहर में सैकड़ों वकील बैरिस्टर पड़े हुए हैं; लेकिन एक व्यक्ति भी ऐसा नहीं, जिसके हृदय में दया हो, जो स्वार्थपरता के हाथों बिक न गया हो। छल और धूर्तता इस पेशे के मूलतत्त्व हैं। इसके बिना किसी तरह निर्वाह नहीं। अगर कोई महाशय जातीय आंदोलन में शरीक भी होते हैं तो स्वार्थ सिद्धि के लिये, अपना ढोल पीटने के लिये।.....यह वर्तमान सामाजिक व्यवस्था का अन्याय है, जिसने इस पेशे को इतना उच्च स्थान प्रदान कर दिया है।’ (मृत्यु के पीछे) हरिविलास कहते हैं—‘मुझे विश्वास होता जाता है कि हमारी जाति की अवनति का एक मुख्य कारण यही पेशा है। इसकी बदौलत हमारी अदालतों में न्याय सर्व साधारण के लिये अलभ्य हो रहा है। जब एक एक पेशी के लिए दो दो, चार सौ, यहाँ तक कि दो-दो चार चार हजार लिये जाते

हैं तो स्पष्ट है कि यह समय या परिश्रम का मूल्य नहीं बल्कि लोगों की ईर्ष्या और दुर्जनता का व्याज है। जिस पेशे का आधार मानव दुर्बलताओं पर हो वह समाज के लिए कभी मङ्गलकारी नहीं हो सकता।” (लालफीता) शिक्षितवर्ग की इस निकृष्टतम स्वार्थपरता से क्षोभ क्यों है ? कुँअर जगदीशसिंह मनोमंथन करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं—

“भला स्वार्थ साधन की शिक्षा के लिये गीता, मिल, एमर्सन और अरस्तू का शिष्य बनने की क्या आवश्यकता थी ?” (बैंक का दिवाला,)

शिक्षित वर्ग से आशा की जा सकती है कि वह सत्य को समझ कर सत्य की उपासना करेगा, स्वार्थ-सेवी नहीं बनेगा, विलासी भी नहीं। विद्वज्जन को तो ‘संतोष और सरलता का नमूना’ होना चाहिए था। विद्या का धर्म है आत्मिक उन्नति, और आत्मिक उन्नति का पथ उदारता, त्याग, सदिच्छा, सहानुभूति, न्यायपरता और दयाशीलता है।

जिस सभ्यता ने इस गहिरे शिक्षा-प्रणाली को अपनाया है, और धन को प्रधानता दी है, उसका मूलतत्त्व भोग और विलास और विभूति है ; यह आधुनिक सभ्यता विज्ञान पर डटा हुई है—भौतिकवाद या जड़वाद में विश्वास करती है। इसने जीवन को जड़ कर दिया है, जीवनप्रद प्रेरणायें लुप्त हो गई हैं। सेवा, न्याय, दया, प्रेम, इनका महत्व नहीं रह गया—पर ‘तारा’ ने जाना कि कहीं जाकर इस वैज्ञानिक सभ्यता का ममस्त भूत ऐश्वर्य लुच्छ हो जाता है, और हो उठता है। वह अपने इस अनुभव को देशी से कहती है, “मैंने समझा था कि ऐश्वर्य में संसार को दास बना लेने की शक्ति है। पर मुझे अब ज्ञान हुआ कि प्रेम पर ऐश्वर्य, सौन्दर्य और वैभव का कुछ भी अधिकार नहीं।” जिसे ऐश्वर्य नहीं पा सकता उसे सेवा और त्याग पा

लेता है। (संवामार्ग) वर्तमान सभ्यता के संपूर्ण फल और मूल मौलिक मानवीय तत्वों तक नहीं पहुँचते। उनका आकर्षण भी एक स्थान पर जाकर रुक जाता है और अपनी अमर्यता के के लिए क्रन्दन कर उठता है। यह पाश्चात्य सभ्यता की एक परिमिति (Limitation) दिखाकर प्रेमचन्द ने सभ्यता की समस्या का एक दूसरा रूप खड़ा किया है।

इस भौतिकवाद अथवा जड़वाद के मुलभाये कितने ही ऐसे रहस्य हैं जो नहीं सुलभते। 'नाग पूजा' नाम की कहानी में 'प्रेत बाधा' का उल्लेख है। विज्ञान के अध्यापक की समझ में वह रहस्य नहीं आया और उन्हें भौतिक विज्ञान में अपनी अल्पज्ञता स्वीकार करनी पड़ी। ... उन्हें शंका होने लगी कि यह अवश्य कोई प्रेत-लीला है। मिथ्यावादी न थे, पर जहाँ बुद्धि और तर्क का कुछ वश नहीं चलता, वहाँ मनुष्य विवश होकर मिथ्या-वादी हो जाता है। स्पष्ट है कि इस कहानी में वे जड़वाद की भी सीमा निर्धारित कर देना चाहते हैं। जड़वाद का क्षेत्र संकुचित है, उससे आगे भी कुछ है।

जड़वाद या भौतिकवाद (materialism) की समस्या पर प्रेमचन्दजी ने कई कहानियों के द्वारा प्रकाश डाला है, और उसकी संकुचित क्षेत्रता को प्रकट किया है। जड़वाद कार्य-कारण के मूर्त रूप पर ही विश्वास करता है, अन्य बातों को ढकोसला बताता है। भूत-जगत के अतिरिक्त आत्म-जगत उसकी दृष्टि में है ही नहीं, जड़वाद के इसी आधार पर नास्तिकवाद खड़ा होता है। इसी जड़वादी विचार-प्रणाली का अवलंबन लेकर पूर्व-संस्कार, तथा कर्म के सिद्धान्त को अमान्य ठहराया जाता है, और इससे आगे भाग्य या प्रारब्ध भी। पुनर्जन्म में भी फलतः कैसे विश्वास हो सकता है। केवल प्रकृति में मिलने वाली पूर्व निश्चितता (determinism) के कारण से ही कार्य होगा,

जड़वाद स्वीकार करता है, अन्य किसी भी प्रकार की (determinism) पूर्व-निश्चितता वह मानने को तय्यार नहीं। प्रकृति की शक्ति के अतिरिक्त वह किसी अन्य शक्ति में विश्वास नहीं करता। यही कारण है कि मंत्र-शक्ति, ज्योतिष आदि उसकी दृष्टि में उपहासास्पद हैं। भूत-प्रेत जैसी कोई चीज है ही नहीं।

इन सब वैज्ञानिक विश्वासों की निम्सारता लेखक ने मूठ 'प्रारब्ध', 'पूर्व-संस्कार', 'गुप्त धन', 'बलिदान' आदि कहानियों के द्वारा प्रकट की है। 'मूठ' के डाक्टर साहब ज्योतिषियों तथा ओम्ओं के सम्बन्ध में कहते हैं—

‘मैंने कभी उन कहानियों पर विश्वास नहीं किया, परन्तु कुछ-न-कुछ इसमें तत्व है अवश्य, नहीं तो इस प्रकृति-उपासना के युग में उसका अस्तित्व ही न रहता।’

नागपूजा में प्रो० दयाराम को विवश हो कर अपने वैज्ञानिक विश्वासों के विरुद्ध 'प्रेतलीला' को सत्य मानना पड़ा। वे उसे देख कर चकित और विमूढ़ हो गये। उनका विज्ञान उस तिलिस्म को न तोड़ सका। 'बलिदान' में गिरधारी भूत बन कर खेतों में मँडराता मिलता है। 'प्रारब्ध' कहानी में यथार्थवादी लाला जीवनदास 'प्रारब्ध' से लड़ने के लिए सन्नद्ध हुए हैं; पर हा ! मानव परवशता ! हा प्रबल भावी ! भाग्य की विषय क्रीड़ा अब भी उनसे चाल चल रही थी। उन्होंने प्रारब्ध को अपने पैरों पर भुंकाना चाहा, पर अब स्वयं उसके पैरों की रज चाट रहे थे।.....वर्तमान भौतिक शिक्षा ने उन्हें पहले ही अनात्मवादी बना दिया था।' अब उन्हें समस्त प्रकृति अनर्थ और अधर्म के रंग में ढूँढ़ी हुई मालूम होने लगी। प्रकृति अटल नियमों के आधीन है। पर, इन नियमों का सञ्चालन, इस इन्द्रजाल का मदारी अवश्य है, किन्तु वह प्राणी देवता नहीं,

पिशाच है।—पर उन्हें प्राग्भ्य के दूसरे धक्के से उन्हें अपना यह विचार भी बदलना पड़ा—वे कहते हैं “मैं विराट जगत को किसी पैशाचिक शक्ति के अर्धान समझता था जो दीन प्राणियों के साथ बिल्ली और चूहे का खेल खेलती है। हा मूर्खता, हा अज्ञान”...और उन्हें मानना पड़ा कि “इसमें सन्देह नहीं कि इस जगत का स्वामी दया और कृपा का महासागर है।” ‘पूर्व-संस्कार’ नाम की कहानी में कर्म और पुनर्जन्म की स्थापना मिलती है।

इस प्रकार कहानीकार ने विज्ञान की अनात्मवादी भूमि में अनेकों छिद्र कर दिये हैं। उसने विज्ञान के आधारभूत भौतिक धरातल की यथार्थ सीमा दिखादी है। उसने इन कहानियों में अपने बौद्धिक धरातल को अधिक से अधिक नीचे ले जाकर जन-विश्वासों से मिला दिया है; लोक में जो विश्वास प्रचलित है वे अपदार्थ नहीं हो सकते ऐसी मान्यता इन कहानियों में मिलती है।

इस सब पाश्चात्य आयात का विरोध करने के लिए जिस आस्तिकता और सहानुभूति तथा दया और सद्विश्वास की आवश्यकता पड़ती है वह कहानीकार में इस अवस्था की कहानियों में व्याप्त मिलता है। वह (fundamental goodness of human nature) वह मनुष्य में स्वाभाविक सद्प्रकृति को मानने लगा है और उन विद्वानों से सहमत नहीं जो यह मानते हैं कि मनुष्य की स्वाभाविक प्रकृति पाप की ओर होती है। पर यह मान्यता उसे अपनी पहली अवस्था से ज्यादा दूर नहीं ले जाती, केवल उसके भाव-जगत् में एक संशोधन मात्र कर देती है। वह आस्तिकता की व्याप्त भावना जो ईश्वरीय न्याय, गरीब की दाय आत्माराम, विध्वंस, दुर्गा का मन्दिर आदि में अत्यन्त स्फुट हो पड़ी है। वह आचरण के पथ से आगे बढ़कर आचरण की

प्रेरणाओं के सत्य को प्रकाश में लाने में तत्पर होगई है। इस तत्परता ने लेखक को पूर्व के स्थूल धरातल से कहीं ऊँचा उठा दिया है फिर भी लेखक तत्त्वदर्शी नहीं हुआ। और पाश्चात्य आयात का विरोध करके ही उसने उपराम ग्रहण नहीं किया, उसने भारतीय संस्कारों में भी जो दोष हैं उनको सामने लाने की चेष्टा की है।

शान्ति नाम की कहानी में पाश्चात्य सभ्यता का प्रबल विरोध है, पर क्या प्राप्य को लेखक ने जमा कर दिया है। घर का भारतीय विधान कितना जर्जर है, यह बात भी तो स्पष्ट होती है उससे बड़े-बूढ़ों की दृष्टि में अपने बालकों के सम्मान का एक दम अभाव मिलता है, इसी कारण घर में सास-बहू, नन्द-भौजाई के झगड़े होते हैं, मर्यादा का आतंक इतना भारी होता है कि वैयक्तिक स्वतंत्रता का निरंकुशता से हनन कर दिया जाता है। घर के साथ यदि संपत्ति का प्रश्न भी है तो भाई भी भाई का शत्रु हो जायगा, और यदि सम्मिलित कुटुम्ब में एक भाई भी अलमस्त हुआ तो भी उस जर्जर सम्मिलित कुटुम्ब का जड़े हिल जायँगी। पहली अवस्था की कहानी में भी घर की इस जर्जरता की भाँकी कहानीकार ने करायी थी पर वहाँ वह सम्मिलित कुटुम्ब की वकालत कर रहा था। इन कहानियों में उसने वह वकालत नहीं की, अब तो उसने घर की कमजोरियों का स्पष्ट उद्घाटन कर दिया है। घर की समस्या का वास्तविक (realistic) रूप सामने रख दिया है। सामाजिक विधान का अव्यङ्ग्य रूप तो कहानीकार ने तड़पती हुई विकलता से अंकित किया है। 'नैराश्यलीला' में विधवा का, गृहदाह में विमाता का, बूढ़ोंकाकी में अवाहिज वृद्धा का, विस्मृति में प्रेम और कुल-प्रतिष्ठा का, 'ब्रह्म का स्वाँग' में जातिभेद और वर्ण-भेद का, शंखनाद में सम्मिलित कुटुम्ब का 'न्यून सफेद' में विरादरी की मर्मज्ञता, और

छूत-अछूत का जो चित्र उपस्थित किया गया है उस सबसे कुछ उन मार्मिक स्थलों का पता चल जाता है जो समाज को और घर को पीड़ित कर रहे हैं।

जैसे कहानीकार ने पूछा हो, क्या समाज व्यक्ति की विवशताओं और उसकी मानवीय दुर्बलताओं का किंचित भी आदर करना नहीं चाहता ? क्या समाज को अपने जड़ मूढ़ग्राह सजीव पुत्र और पुत्रियों से भी प्रिय हैं ? समाज व्यक्ति से समझौता क्यों नहीं कर लेना चाहता ?

और इन सबसे प्रमुख समस्या जो इन कहानियों में उपस्थित हुई है वह 'राजनीतिक' है। पहली अवस्था की कहानियों में राजनीति को राजनीति के आवार पर नहीं लिया था, वहाँ पर-तन्त्र शासन की व्यवस्था की एजेंसियों में मिलने वाले दोषों और उनके अत्याचार के विरुद्ध पुकार उठायी गयी थी। पर यहां आकर कहानी का धरातल शासन के आचरण (administrative conduct) से ऊपर उठकर उसकी नीति तक पहुँच गया है। पर नीति की, इस अवस्था में भी व्यवहारिक आलोचना है, तात्त्विक नहीं। व्यवहारिक आलोचना में नीति की तात्त्विक धिवेचना नहीं होती, राजनीति की राजनीति के धरातल पर आलोचना नहीं, नैतिक (moral) आधार पर होती है। आचरण से ऊपर उसकी प्रेरणाओं को लेकर समस्त आचरण को आलोचना के क्षेत्र में रख दिया जाता है। 'लाल फीता' में हरिविलास बाबू डिण्टीसाहब हैं, ये बड़े विद्वान सच्चरित्र निर्भीक स्पष्टवादी, दयालु और गंभीर हैं, न्याय पर अटल रहने वाले। यद्यपि अपने से ऊपर पदस्थ अधिकारियों के द्वारा अपने न्यायकार्यों के लिए भी उन्हें अन्याय सहने पड़े थे, वे अधिकारियों के आचरण को केवल स्थानीय (local) दोष समझते थे, जिसकी परिधि व्यक्ति विशेष के प्रभाव की सीमा तक ही रहती है; वह उन

आचरणों के लिए राज्य को दोष नहीं दे सकते थे क्योंकि 'यह इसी शासनकाल की उदारता थी कि उन्हें (कुरमी होने पर भी) ऐसा ऊँचा पद मिला था नहीं तो उनके लिए यह अवसर कहाँ था ? दीनों और असहाय की इतनी रक्षा किसने की ? शिक्षा की इतनी उन्नति कब हुई ? व्यापार का इतना प्रसार कब हुआ ? राष्ट्रीय भावों की ऐसी जागृति कहाँ थी ?' वे जानते थे कि शासक लोग इस मूल तत्व को भूल न जायें राज्य की अव-
नति नहीं हो सकती। हमारी सरकार ने सदैव इस आदर्श को अपने सामने रखा है। प्रत्येक जानि को, प्रत्येक व्यक्ति को उस रेखा तक कर्म और वचन की पूर्ण स्वाधीनता देदी है कि जहाँ तक उससे दूसरों को कोई हानि न हो। यही न्याय-प्रियता हमारी सरकार को अमर बनाये हुए है। कर्मचारियों में अच्छे और बुरे दोनों ही हैं। जो अच्छे हैं उनके लिए भी यहां जातिसेवा और उपकार का बड़ा विस्तृत क्षेत्र है। सरकार किसी गुप्त और प्रजाघातक नीति का व्यवहार नहीं करती। सरकार की नौकरी गुलामी नहीं क्योंकि यहां हमें अपने धर्म और आत्मा के विरुद्ध चलने पर विवश नहीं किया गया। इन्हीं विचारों के कारण वे सरकार के भक्त थे। पर शीघ्र ही उन्हें अपना भ्रम विदित हो गया। लाल फीत में बंधा सरकारी कम्युनिक ने उन्हें ठेस पहुँचायी क्योंकि उसने सरकार की प्रजाविरोधी नीति उनके सामने खोल दी। उस कम्युनिक का मूल व्यक्ति के स्थानीय प्रभाव की परिधि से कहीं आगे था, वह सरकार की नीति के गुप्त केन्द्र को खोल रहा था और तब हरिविलास इस निश्चय पर पहुँचे, "इस समस्या का कारण यही है कि हमारे शासक विजातीय हैं और उनका स्वार्थ प्रजा के हित से भिन्न है।"

इस एक उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि अब भी हरिविलास बाबू नीति की आलोचना कर रहे हैं, पर वह

आलोचना व्यवहार-क्षेत्र के सिद्धान्तों पर निर्भर करती है, तात्विक नहीं। सरकार की प्रेरणा और कर्मचारियों के आचरणों का पूरा रूप ही यहाँ आलोच्य बना हुआ है।

यों यह कहानी रूपरेखा और स्वभाव (character) में पहली अवस्था की कहानी, विशेषतः 'नमक का दारोगा' के समकक्ष है, समझौता यहाँ नहीं, आचरण की प्रधानता है; अन्त में त्याग का पुरस्कार भी है, फिर भी आचरण की व्याख्या में (moral heroism) नैतिक शौर्य की (unflexible) बेलोच भावुकता नहीं आ पायी, (conscientious) सचेत विचार-प्रेरणा से उत्पन्न होने वाली, (political non-cooperation) राजनीतिक असहयोग में प्रयुक्त वीरता का भाव प्रधान होने से कहानी दूसरी अवस्था की बन गयी है।

तो दूसरी अवस्था की कहानियों में राजनीतिक आन्दोलन के विषय का भी राजनीतिक व्याख्या के साथ समावेश हुआ है। 'लागडॉट' में चौधरी और भगत की व्यक्तिगत लागडॉट ही नहीं देश-भक्ति और राजभक्ति, स्वराज्य या स्वतंत्रता और परतंत्रता की भी लागडाट है।

यो तो प्रेमचन्दजी की साम्यवाद की समस्या से युक्त कहानियाँ, भौतिक सभ्यता और जड़वाद का विरोध करने वाली कहानियाँ, वर्तमान शिक्षा-प्रणाली से विद्रोह सिखाने वाली कहानियाँ—सभी मूलतः राजनीतिक सार्थकता रखती हैं—इन सब में पूँजीवाद के दोषों का उद्घाटन है, पर वे प्रत्यक्षतः राजनीतिक आन्दोलन से सम्बन्धित नहीं। ये कहानियाँ आन्दोलन से आन्दोलित नहीं। सुहाग की साड़ी, लाल फीता, लागडॉट, दुस्साहस आदि में इस राजनीतिक आन्दोलन का रूप स्पष्ट है। इनमें विदेशी वस्त्रों की होली, खहर कातना बुनना और पहनना, अदालतों का बहिष्कार, मद्यनिषेध, सरकारी मदरसों से सम्बन्ध

विच्छेद—इन बातों का उल्लेख हुआ है।

इस प्रकार इन कहानियों में राजनीतिक आन्दोलन की तीन अवस्थायें मिलती हैं। एक पर-शासन का अत्याचार, उसके प्रति मानसिक क्रान्ति और तब उसका सामूहिक क्रियात्मक रूप।

पर-शासन के अन्याचार में लेखक ने नैतिक जीवन के पतन पर ही विशेष जोर डाला है। सभी विभागों में व्याप्त आचरण-नीति की हीनता उस विभाग के कर्मचारियों के द्वारा प्रकट होती है। यों इस द्वितीय विकास की ये आचरण-नीति की हीनता को प्रकट करने वाली कहानियाँ, प्रथम अवस्था की कहानियों की कोटि में आ सकती हैं; पर नहीं, दूसरी अवस्था की कहानियों में अन्य कला-सम्बन्धी भेद को छोड़ दें तो भी, लेखक के मानसिक संविधान में भाव का जो धरातल है वही इनमें मिलता है। राजनीतिक मोर्चे के संश्लिष्ट संयोजन में ही ये कहानियाँ आ सकती हैं। पशु से मनुष्य बनने वाले व्यक्ति के नैतिक उत्थान के कारण में जहाँ राजनीतिक साम्यवाद और सहकारिता का मूल भाव है, वहाँ मनुष्य से पशु बनने की 'विषम-समस्या' में भी मूलतः आज की राजनीति का व्यापक सत्य काम कर रहा है—वह है शोषण। 'शोषण' इस पर-शासन का प्रथम नियम है, और ऊपर से चल कर नीचे तक छन आया है। राज्य कर्मचारी को अपना कर्तव्य ईमान-दारी से पालन करने के लिए इस पर-शासन में प्रतिक्षण अपमानित होने का भय रहता है (लाल फीता), न्याय और प्रजापालन का तो इस शासन में दम्भ और दिखावा ही है। इस कारण राजनीतिक मोर्चे का यह पहला पहलू नैतिक आचरण के समकक्ष हो गया है।

इस अत्याचार के प्रदर्शन में ही मानसिक-क्रान्ति का बीज है। यह वाध्य करती है मनुष्य को कि वह जब ऐसा अत्याचार

देखे तो यह समझे कि इनका विधाता कहीं पर्दे में छिपा हुआ इन्हें प्रोत्साहित कर रहा है, तभी ये इतने निर्दय हैं, और निर्भय हैं, और उस विधाता से हमें हर क्षेत्र में लड़ाई लड़नी है। निश्चय ही यह विधाता कोई व्यक्ति नहीं, यह तो वह (system) है, प्रणाली है जो अपने लौह पंजों से हमें चारों ओर से जकड़े हुए है, और हमें प्रतिदिन हर दिशा में दीन किये दे रही है। इस प्रणाली में शिक्षा और सभ्यता हाथ बाँध कर साथ-साथ चल रहे हैं, इनके पीछे है शासक-संस्था जिसके तीन रूप हैं—पुलिस, विविध-शामन-विभाग तथा धारा-सभाएँ। शिक्षा और सभ्यता भारत के मनुष्य को अपने से घृणा करना सिखाती हैं, अपने से विरोध करना सिखाती हैं; विविध शामन-विभाग इसे शोषण करने में मंलग्न हैं और शोषण की परंपरा इतनी गहरी है कि उसने भारत-निवासियों को, पदानुवर्ती शिष्टता (office-decency) से ही नहीं गिराया, घोर नैतिक पतन के गर्त में गिरा कर अत्यन्त कुत्सित कर दिया है, जिससे जीवन में बन के लिए लागूडॉट ही जीवन का स्थान ग्रहण कर बैठी है—पुलिस आतंक और कायरता फैलाने के लिए है, भारतनिवासी की भी रही-सही कमर तोड़ देने के लिए। धारा सभाएँ प्रतिदिन भारत के अधिकारों की सीमा कम करते जाने के लिए हैं। इन सबके साथ न्याय का ढोंग और शिक्षित वर्ग की मुट्ठमरदी, बिना उत्पादन किए चीटी की भाँति का जीवन, जो (imperialistic) साम्राज्यशाही की एक विशाल प्रणाली का जीजान से पोषक है, समस्त उत्पादक परिश्रम को हेय सिद्ध करने में साम्राज्य का परमसहायक। और इस सबके मूल में है वह नीति जो भारतीय जन-जागृति के प्रत्येक कार्य को संदेह की दृष्टि से देखती है और उसे किसी भी प्रकार पनपने नहीं देना चाहती। इस दूसरी अवस्था की कहानियों से यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि प्रेमचन्द इन सभी पहलुओं

पर आक्रमण कर रहे हैं। शिक्षा के प्रति, सभ्यता के प्रति, शासन के प्रति और उसकी नीति के प्रति, धारा सभाओं के प्रति भी उसने अपने विरोध को स्पष्ट कर दिया है। 'आदर्श-विरोध' में जहाँ एकसाथ ही प्रदर्शित है, शासन-सूत्र के चलाने वालों के स्वार्थ-मन्तव्यों के साथ बना हुआ वह रवैया—जहाँ जो कुछ आदर सम्मान है सब हाँ हज़ूर में है, जहाँ वायसराय की निगाह तिरछी न हो इसका ध्यान रखना पड़ता है, और जो (धारा सभा) एक नमक की खान है जिसमें जो कुछ जाता है नमक हो जाता है, वहीं 'आदर्श-विरोध' कहानी में इस सर्वाङ्गीण 'राजनीतिक-क्रान्ति' के लिए वे शब्द, जो आनरेबल मिस्टर मेहता के वज्र के भाषण की आलोचना हैं, पूर्णतः प्रकट करते हैं और यह दिखाने हैं कि भारतीय आत्म-हीनता (inferiority complex) के भाव से इतने ग्रस्त हैं कि वे अपने देश की उचित मांगों के विरोध में ऐसी मर्मभेदी बातें कह सकते हैं जैसी अँगरेज भी नहीं कह सकते :

“सभापति मिस्टर तालिबजी ने कहा—हमको बहुत खोजने पर भी कौंसिल के किसी अँगरेज मन्वर की वक्तृता में ऐसे मर्म-भेदी, ऐसे कठोर शब्द नहीं मिलते। हमने अबतक किसी राजनीतिज्ञ के मुख से ऐसे भ्रान्तिकारक, ऐसे निरंकुश विचार नहीं सुने। इस वक्तृता ने सिद्ध कर दिया कि भारत के उद्धार का कोई उपाय है तो वह स्वराज्य है जिसका आशय है मन और वचन की पूर्ण स्वाधीनता। क्रमागत उन्नति (Evolution) पर से यदि हमारा एनवार अबतक नहीं उठा था तो अब उठ गया। हमारा रोग असाध्य हो गया है। यह अब चूर्ण और अवलेहों से अच्छा नहीं हो सकता। उससे निवृत्त होने के लिये हमें काया-कल्प की आवश्यकता है। ऊँचे राज्यपद हमें स्वाधीन नहीं बनाते बल्कि हमारी आध्यात्मिक पराधीनता को और भी पुष्ट कर देते हैं।”

मानसिक क्रान्ति के उद्योग के बाद सामूहिक क्रियात्मकरूप ने वही मार्ग अवलंबन किया है जो काँग्रेस के आंदोलन का था। विदेशी कपड़ों की होली, मद्यनिषेध, बायकाट, सत्याग्रह आदिक दृश्य लेखक ने दिखाये हैं, पर इन सामूहिक क्रियात्मक आंदोलनों की व्याख्या में कोई गहरी राजनीतिक व्यञ्जना नहीं मिल सकती। 'सुहाग की साड़ी' में विदेशी कपड़ों की होली के बाद किसी राजनीतिक स्थापना का दृश्य नहीं दिखाया गया, एक सामुदायिक दरिद्रता को दूर करने का स्वर्णिम चित्र देकर कहानी शान्त हो जाती है। 'दुस्साहस' में मद्यनिषेध का तर्क नैतिक तथा आध्यात्मिक तर्क ही है। 'सत्याग्रह' में भी लेखक 'हड़ताल' की स्थानीय घटना तक सीमित रहा है उसने किसी राजनीतिक प्रश्न को तत्वनः नहीं उठाया। किन्तु हैं ये सभी कहानियाँ राजनीतिक क्रियात्मक आन्दोलन के अंग और काँग्रेस की नीति की प्रतिपादक होने के कारण काँग्रेस के मूल राजनीतिक स्टैंड (Stand) के साथ हैं, राजनीतिक तत्त्वों पर ये निर्भर है। कहानियों में, इस प्रकार से राजनीतिक संघर्ष का एक दूसरा पहलू भी स्पष्ट होता है। भारतीय राजनीतिक आन्दोलन गाँधीवादी प्रणाली में नैतिक आधारों पर ही लड़ा गया है।

इनमें उसने हिन्दू-मुसलमानों को भी नहीं बिसराया। प्रथम अवस्था की कहानियों में हमें हिन्दू और मुसलमान गाँव की गलियों और चौपालों में बिना भेदभाव के मिलते जुलते मित्र और विश्वासी की भाँति रहते देखते हैं : "जुम्मन जब हज़ करने गए थे, तब अपना घर अलगू को सौंप गये थे; और अलगू जब कभी बाहर जाते, तो जुम्मन पर अपना घर छोड़ देते थे।" यह घनिष्ठता होते हुए भी "उनमें न खानपान का व्यवहार था, न धर्म का नाता।" आगे जब अलगू जुम्मन के विरुद्ध पचायत में फैसला देते हैं तब जुम्मन अलगू के शत्रु हा

जाते हैं, पर उनकी शत्रुता के आधार में कहीं साम्प्रदायिक भाव नहीं। सहज मानवीय प्रवृत्तियाँ ही काम कर रही हैं। दूसरी अवस्था की कहानियों में भी हमें हिन्दू-मुसलमान मित्र और घनिष्ठ मित्र की भाँति परस्पर विश्वास करने वाले मिलते हैं, पर वे शहरी वातावरण में पले हैं, और साम्प्रदायिक आचार को समझने वाले हो गये हैं; हाँ, उसमें स्पष्ट ही उन्होंने अधिकारियों की नीति का स्पष्टीकरण किया है। नईम अपने मित्र कैलाश से कह रहा है:—

‘मुझे इस कार्य के लिए नियुक्त करने में अधिकारियों की एक मसलहत थी। कुँवर साहब हिन्दू है, इसलिये किसी हिन्दू कर्मचारी को नियुक्त न करके जिलाधीश ने यह भार मेरे सिर पर रक्खा। यह सांप्रदायिक विरोध मुझे निस्पृह सिद्ध करने के लिए काफी है।’ इस कथन से यह भी विदित हो जाता है कि इस अवस्था की कहानी के पात्र वैयक्तिक रूप में हिन्दू के घनिष्ठ मित्र होते हुए भी हिन्दू-मुसलमानों के सांप्रदायिक विरोध के वहाने को अपने स्वार्थ-साधन में सहायक बनाने में नहीं हिचक रहे।

यहीं एक शब्द पाप-पुण्य की समस्या के सम्बन्ध में भी।

इस प्रकार घर, समाज और राजनीति की धूप-छाँह में लेखक ने व्यक्ति जनित मनोवैज्ञानिक समस्याएँ भी उपस्थित की हैं। वे समस्याएँ पात्र-रूप में ही समझी जा सकती हैं। ‘अनिष्ट-शंका’ में अतिशय प्रेम करने वाली, मूढ़प्राहों (superstition) में ग्रस्त स्त्री, अनिष्ट शंका से इतनी भय-विह्वल ? ‘गृहदाह’ जैसी कहानी में विमाता की जलन इस सीमा तक पहुँच सकती है कि वह अपने पुत्र तक को त्याग बैठे और घर का सर्वनाश कर दे ? सर्वहारा हो जाने पर बृद्धा का घर में अनादर तो होता ही है, उसकी वह मनोवस्था भी तो समझने की है जिसमें वह सब कुछ भूल कर

स्वाद-संतोष के लिए गर्हित व्यापार तक कर सकती है ? वैधव्य में स्त्री की मनोदशा कहीं ठीक रह सकती है, उसका गम्भीर दर्शन 'नैराश्य लीला' में मिलता है। यह भी व्यक्तिगत मनोवैज्ञानिक प्रश्न ही है कि 'शतरंज के खिलाड़ियों' में वह राजकीय उपेक्षा और कायर प्रवृत्ति क्यों घर कर गयी और उनके लिए समय बढ़कर 'शतरंज' का विलास ही क्यों प्रधान बन गया ? बालक पर चपत पड़ना ही बाँके गुमान के लिए क्यों 'शंखनाद' के समान हुआ ? और क्या मनोविज्ञान में यह कम विचारणीय है कि मोटेराम शास्त्री, 'प्रात्माराम' कहानी के पुरोहितजी, 'गरीब की हाय' के मुन्नीराम सेवक कैसे अपना आन्तरिक सन्तोष कर अवाञ्छनीय मार्ग पर चलने का दुस्साहस कर सकते हैं; वह बल उन्हें कहाँ से मिलता है ? আর उसी प्रकार 'बौड़म' और 'दपतरी' और 'राजा बख्तावरसिंह' को इतने कष्ट और व्यंग्य तथा अपमान, यहाँ तक कि मरणान्तक पीड़ा सहते हुए भी अपने विचार और मार्ग पर डटे रहने की प्रेरणा कहाँ से मिलती रहती है ?

प्रेमचन्द ने इन व्यक्तिगत मनोवैज्ञानिक समस्याओं को उपस्थित कर यह बात स्पष्ट बतला दी है कि संसार में सर्वसाधारण (Common people) से भिन्न विशेष मनोवृत्ति के मनुष्य भी दिखायी पड़ते हैं, जिनके कार्यक्रम का साधारण-बुद्धि की तर्कभूमि में कोई स्पष्ट कार्यकारण सम्बन्ध नहीं मिलता। ये सर्वसाधारण से अलग छूट जाते हैं और निश्चय ही मनोविज्ञान के लिए विचार करने की सामग्री प्रदान करते हैं। प्रेमचन्द को इन मानवीय विशेषताओं तथा मनोवैज्ञानिक पहलियों की ओर आकर्षण, इन द्वितीय अवस्था की कहानियों में ही हुआ। फलतः इन कहानियों में उनका आधार पहले से अधिक वैज्ञानिक हो गया है।

पहली अवस्था की कहानियों में हमें जिस प्रकार के व्यक्ति मिले थे, वे तो प्रायः सभी हमें इन कहानियों में मिलते हैं, यद्यपि वे अब उतने मात्र टाइप नहीं रह गये उनसे भी अधिक; विस्तृत क्षेत्र से विविध व्यक्ति दूसरी अवस्था की कहानियों में मिलेंगे। नौकर पेशा लोग हैं, कारिन्दा और जमींदार हैं, ताल्लुकेदार, देश-सेवक, सुनार, माली, ओम्हा, डाक्टर, जज, कनिष्ठ, प्रोफेसर, धोबी, अताई, दफ्तरी, मुसलमान, थानेदार, मौलाना, स्वामी, बैरिस्टर, वायसराय की कार्यकारिणी के सदस्य, विजेता, ग्रामीण बनिया, राजकुमार कुरमी, गांव का अध्यापक, हेड कान्स्टेबिल, सियाहे नवीस, लड़के, सम्पादक, राजपूत राजा, वैद्य, रंगरेजिन, अंगरेज मुसाहिब जैसे अनेक पात्र हैं। कारिन्दे पहले जैसे ही अत्याचारी, जमींदार भी वैसे ही, पुलिस भी वही, ताल्लुकेदार विलासमग्न यों शूरवीर हैं, धनलोलुप डाक्टर, वैद्य, वकील, गृहवीर दफ्तरी। सच्चे देश-सेवक, पहले जैसे दिखाने भर के नहीं, व्याख्यान भूमि छोड़ कर्मभूमि में आ जाने वाले हैं। मुसलमान हैं, अपने धर्म की लिर झुकानेवाले भी और साम्प्रदायिक विरोध का लाभ उठाने वाले भी, पर अभी हिन्दुओं से भाई-चारा निभा रहे हैं, शत्रु नहीं बने। वकील वैसे ही।

इन कहानियों में नीचे-से-नीचे वर्ग धोबी, माली, ओम्हा, कुरमी से ऊँचे-से-ऊँचे वर्ग ताल्लुकेदार, विजेता (नादिर), अंगरेज मुसाहिब, राजा तक आ गये हैं। किन्तु जिस प्रकार पहली कहानियों में पात्रों ने अधिकांश अपने नौकरी-पेशा के पद से उत्पन्न होने वाला वैयक्तिक आचरण सम्बन्धी रूप उपस्थित किया था, वैसे इन कहानियों में नहीं हुआ। विविध पेशों के व्यक्ति आकर, वकीलों, पुलिस, ओम्हों, कारिन्दों, धोबी, वैद्य आदि को छड़ कर जीवन की समस्याएँ उपस्थित करते हैं,

उनका पेशे से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं। वे पेशे में, उनके अपने आचरण से उत्पन्न नहीं होतीं। उदाहरणार्थ पहली कहानियों में 'नमक का दरोगा' अथवा 'सज्जनता का दण्ड' के दारोगा या सरदार साहब का प्रश्न उस आचरण का प्रश्न है जो वे उस नौकरी के कारण नौकरी में रहते हुए ही करते हैं, नौकरी की सीमाओं में घिरे हुए होकर जो वे करते हैं वही कहानी का विषय है। पर बाद की कहानियों में जैसे 'लाल-फीता' में, जो बहुधा पहले वर्ग की कहानियों के समकक्ष हैं, इमें मिलता है कि कहानी का विषय हरविलास बाबू के नौकरी पर रहते हुए नहीं उत्पन्न हुआ है, नौकरी के उनके कर्तव्य करते हुए अपने आचरण से उसका सम्बन्ध नहीं—वह तो उनकी नौकरी की रूप-रेखा से, जो उनके आचरण से भिन्न है, पैदा हुआ है। इससे भी आगे जिन पेशों का उल्लेख हुआ है कहानीकार ने उन पेशों को उनकी विशेषताएँ दिखाने के लिए नहीं चुना, वे कहानी के कथानक की भूमि के रूप में आये हैं और कहानीकार ने उनकी ओर ध्यान नहीं जाने दिया है। उनकी भूमि पर अन्य चरित्र, जीवन अथवा मनोविज्ञान सम्बन्धी बातें ही कहानी बन कर चलती मिलती हैं।

'आत्माराम' में मुख्य पात्र सुनार है, पर जो समस्या इस कहानी में है उससे 'सुनार' पेशे का कोई सम्बन्ध नहीं। कहानी तो इतनी भर है कि महादेव तोता पढ़ाता रहता है, तोता उड़ जाता है, महादेव रात में भी तोते की आशा में जंगल में रहता है, वहाँ उसे आता देख चोर भाग खड़े होते हैं। उसे मुहर भरा कलश मिल जाता है.....। इसमें 'महादेव' सुनार न होकर चमार हो सकता है, लुहार हो सकता है, किसी का नौकर हो सकता है, रिश्वत खाने वाला कचहरी का कर्मचारी हो सकता है क्योंकि कहानी का उस पेशे से सीधा सम्बन्ध

नहीं। इसी प्रकार 'पशु से मनुष्य' में 'माली' न होकर किसान होता, किसी फैक्टरी का मजदूर होता तो भी कहानी में कोई व्याघात नहीं पड़ता। 'मूठ' में डाक्टर की बजाय वकील या कोई और भी हो सकता था। इसके अर्थ यह नहीं कि कहानीकार ने यों ही अपने पात्रों को सुनार, माली या डाक्टर कह दिया है। नहीं, कहानी की भूमि के लिए इनके अतिरिक्त दूसरे नामों की कल्पना कभी ठीक नहीं रहती। वह प्रभाव जो कहानीकार चाहता है, पैदा नहीं हो सकता था। सीधे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि विविध वर्ग व्यक्ति और जातियों में से चुन-चुन कर पात्रों को लेते हुए भी प्रेमचन्द की कहानियाँ मानवीय समस्याओं को सामने लाने में प्रवृत्त हैं। उन्होंने व्यक्तियों के इन विविध संकुचित क्षेत्रों और गलतियों में घूम-फिर कर भी जैसे यही बतलाना चाहा है कि अरे तुम अपने को इन नामों के बन्धन में बाँधे हुए हो; नहीं, तुम तो इनसे ऊपर हो, मानव हो और वही पहले हो। कहानीकार चाहता है कि सर्वत्र पेशे से आगे मानवता का सम्मान हो। यहाँ आकर हम कह सकते हैं कि प्रेमचन्द ने सामाजिक, राजनीतिक और वैयक्तिक मोर्चे लड़े हैं। अधिकांश मोर्चे राजनीतिक संघर्ष से सुसंबद्ध दीखते हैं जिनमें किसी न किसी प्रकार की मुक्ति (Emancipation) में राजनीतिक मुक्ति का भाव भलकता है, पर इस सम्पूर्ण राजनीतिक मोर्चे का मूल यही 'मानव' का सम्मान है।

पर यह मानव जिस मुक्ति (Emancipation) के लिए व्याकुल है वह मनुष्य के अपने किये विकार हैं—वर्तमान जीवन के घर, समाज और राजकीय क्षेत्र से सम्बन्ध रखने वाले, पर यह समस्त मानव जैसे एक और लौह शृंखला में बद्ध है, वह है प्रारब्ध और परिस्थिति की। जैसे सभी मनुष्य इस प्रारब्ध और

परिस्थिति के झूले में हों। इस प्रारब्ध ने मनुष्य के उद्योग को घेर रखा है।

दूसरी अवस्था की कहानियों में हमें जो बातें विशेष मिलती हैं अथ संक्षेप में उन्हें रख देना आवश्यक है, इससे इन कहानियों के विकास की रूप-रेखा पूर्णतः स्पष्ट हो जायगी। हमें यह भी विदित हो जायगा कि किन नई भूमियों पर लेखक गया है।

पात्रों के सम्बन्ध में ऊपर जो विवेचन दिया गया है उससे यह स्पष्ट होता है कि क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत हो गया है। किन्तु इस नयी अवस्था की कहानियों में वे दूरदर्शी पर दकियानूसी वृद्ध नहीं मिलते, और नये पात्रों में छोटे लड़कों ने सब से पहले इसी दूसरी अवस्था में प्रवेश पाया है, 'विमाता' में, 'महा-तीर्थ' में और 'सच्चाई का उपहार' में।

कहानियों का धरातल आचार (Moral plane) से उठ कर बौद्धिक (rational) होता हुआ मनोवैज्ञानिक हो उठा है, पर बौद्धिक (rational) क्षेत्र में कहानीकार भौतिक-बौद्धिकता (Materialistic rationality) को लाने के लिये सन्नद्ध नहीं हुआ। मनोविज्ञान के प्रकाश में चित्रित विशिष्ट भांक्तियाँ इन कहानियों में मिलती हैं।

पर साथ ही कहानीकार ने उन बातों को भी मान्यता प्रदान की है जो लोक-प्रचलित हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि कहानीकार ने मनोविज्ञान की सीमाएं तो ठीकरखी हैं पर विज्ञान के मक्खन में सुइयाँ चुभाकर पाश्चात्य सभ्यता के वैज्ञानिक नास्तिक सिकंदर के पास लौटा दी हैं। इसी कारण इन कहानियों में प्रेतलीला, मंत्रशक्ति, भाग्य आदि पर प्रबलता से प्रकाश पड़ता हुआ मिलता है। ये पहेलियाँ, जिज्ञासा और कौतूहल से पूर्ण हो गयी हैं।

कौतूहल का भाव बढ़ाने के लिए केवल ये लोक-प्रचलित बातें ही लेखक ने नहीं लीं, उसने 'वैचित्र्य' भाव को संतुष्ट करने के लिए 'रूपक कहानियों' (Allegories) का भी आश्रय लिया है। 'सेवा-मार्ग', 'शिकारी राजकुमार', 'ज्वालामुखी' जैसी कहानियाँ रूपक कहानियाँ हैं। इनमें अनोखे और विचित्र दृश्यों से, अद्भुत घटनायलियों से, कौतूहल के साथ कहानीकार ने अपना संदेश दिया है। सबसे पहले रूपक-कहानियों का इसी दूसरी स्थिति में कहानीकार ने आश्रय लिया है, और यहीं उसने उसे समाप्त भी कर दिया है। आगे इनकी केवल मनोवैज्ञानिक छाया रह जाती है। ऐसा मान्य अस्तित्व नहीं।

इससे यह सिद्ध है कि कहानीकार इन कहानियों में अपने मानसिक 'दृष्टिकोण' में एक दम लोक सर्वसाधारण के साथ चल रहा है। जो है (that which is) इस भाव को लेकर ही, उसी को चित्रित करने के लिए उसने कहानियों की भूमि उग्रस्थित की है, इसी कारण उसमें यथार्थ (realism) की प्रवृत्ति बहुत बढ़ गयी है। इसी यथार्थ के कारण वह चौराहे (cross roads) पर खड़ा हुआ सा लगता है। इन कहानियों में जैसे वह अपनी कोई बात नहीं कहना चाह रहा, वह केवल यह कह रहा है कि देखो यह है, और देखो, यह भी है। विज्ञान भी है पर उसकी सामर्थ्य के बाहर की भी ये बातें हैं जो लोक में प्रचलित हैं; प्रकृत बातें भी हैं, अप्राकृत अथवा पराप्राकृतिक (Super natural) भी हैं; स्थिति तद्वत् रहने का भाव भी है, क्रान्ति का भी है; यथार्थ भी है पर आदर्श भी है; प्रारब्ध (determinism) है ही, पर free will का भी अभाव कहाँ है। अस्तिकता से कहानियाँ भरी पड़ी हैं पर नास्तिकता भी बिना दावे के नहीं।

यह विशेषता और भी है कि ये दोनों पहलू जिस प्रकार पहली कहानियों में दिखाये गये हैं उससे अधिक प्रबल, अधिक युक्तिमत और प्रमाण-परिपुष्ट हो गये हैं। प्रथम अवस्था की कहानियों में द्विपक्षीयता केवल इसलिए आयी है कि 'न्याय' की रक्षा हो। दूसरा पक्ष यों न कहे कि मेरी बात सुनी नहीं गयी; पर इन कहानियों में (दूसरी स्थिति में) दूसरा पक्ष न्याय के लिए, न्यायमात्र के लिए नहीं आया, वह वस्तुतः लेखक की धारणा (पूर्वविश्वासों) को ठोकर जमान और उन विश्वासों का स्थानापन्न होने के लिए आया है। उनमें वास्तव में द्वन्द्व है, द्वापर है। यह द्वन्द्व बहुधा युक्तियों से प्रकट हुआ है, कथानक का अंग कम ही बन पाया है।

इस दूसरी स्थिति की कहानियों में, रोचकता ही नहीं रस भी मिलता है। रोचकता वहाँ होती है जहाँ मानसिक संतोष या मानसिक आकर्षण बना रहता है। रस वहाँ आता है जहाँ हृदय स्पर्श भी होने लगता है, जहाँ मार्मिकता पैदा हो जाती है। पहली स्थिति की कहानियों में रोचकता ही थी, वे एक विशेष ढंग में उपस्थित की गयी थीं, जिससे उन कहानियों का संस्थान ही विषय से मिलकर उन्हें पढ़ने वाले के मष्तिष्क में रोचकता की स्थिति तक पहुँचा देता था—जैसा ऊपर के अध्याय में स्पष्ट किया गया है विविध अंग सुगठित होकर तो कहानी को कहानी बनाते ही हैं; उनमें कथा-पूत्र जिज्ञासा को बढ़ाता चला जाता है। इस जिज्ञासा के अतिरिक्त उन कहानियों में जो वाक्-वैद्य (wit) के पुट के साथ दूसरे पक्ष की सर्वनाशकारिणी शक्ति का संतुलन है उससे उन कहानियाँ में आकाँक्षा बहुत बढ़ जाती है, और सत् की शक्ति की विजय की सम्भावना में, उस सर्वनाशकारिणी के संतुलन से, अधिक विश्वास होता ही जाता है कि कहानी

‘उत्कर्ष’ पर पहुँच जाती है, और सत् की शक्ति में किसी चमत्कार से विजय का प्रकाश देखने और असत् की उस सारी संग्रहित शक्ति के पराभव का जो संभावना उठती है वह उत्कर्ष पर पहुँच कर एकदम ठंडी हो जाती है, क्योंकि ‘अनहोनी’ की जो आशंका पैदा होती है वह अनहोनी होती नहीं और पाठक में एक वैसा ही भ्रम-परिहार होता है जैसा ‘इन्सुलिन’ के ‘डॉल्स हाउस’ (गुबियाघर) में होता है। हम कितना चाहने लगते हैं कि न्याय पर अड़ने वाला ‘नमक का दरोगा’ न्यायालय के हाथों न्याय पाये, और वहाँ की शक्तियाँ ‘धन’ के प्रभाव में अपने को न खो बैठें; हम कितना चाहते हैं कि ‘सज्जनता का दंड’ में सरदार को उनका विभाग उनकी ईमानदारी और नेकनीयती के लिए दंड न दे; न उन्हें तरफ़ी दे, यह हम चाहते हैं। इस प्रकार हमारी आकांक्षा उठकर बैठ जाती है—हमारी उत्कण्ठा तीव्र होकर अनायास ही लक्ष्यहीन हो जाती है, यही उन कहानियों की रोचकता का कारण है। इनमें रस का परिपाक नहीं। बाद की कहानियों में, इस दूसरी अवस्था की कहानियों में रोचकता का यह रूप तो बना ही हुआ है साथ ही उसमें रस का समावेश और हो गया है। इन कहानियों में आकांक्षा और उत्कण्ठा के साथ हृदयस्पर्शिता भी आगयी है। इसका एक कारण तो यह है कि कहानी आचार की नहीं रह गयी; घटना मात्र पर निर्भर न रह कर सूक्ष्म मनोतत्त्वों को गूँथती हुई भावमय हो चली है; भावना का परिपाक भी हो उठा है। पहली कहानियों को पढ़कर जहाँ हमें हताश होने अथवा उत्साहित होने के साधारण मनो-वेग मिलते हैं, वहाँ बाद की कहानियों में विविध संचारियों के उदबुद्ध होने से वे मनोवेग विशेष आनंदालित हो उठे हैं।

इन कहानियों में स्त्रियों भी पहले की कहानियों के समान नहीं। उन्हें अब ‘सत्’ से सदानुभूति हो गयी है। जो केवल

पहले धन के लिए ही रोती थीं, वे अब 'डाक्टर' से अथवा 'कारिन्दा' से इसीलिए सहानुभूति नहीं रखती कि वह अनुचित रूप में धन को चाहने लगा है। इन कहानियों में स्त्रियों की रूप-रेखा भी पूर्ण उभर आयी है। पहली कहानियों में घर की सीमा में रहने वाली, अपनी प्राच्यप्रणाली में वेसुध, स्त्रो-सुलभ स्वभाव के चित्र की भाँकियाँ-सी स्त्री-पात्र दे रहे थे। अब वे आगे बढ़कर पाश्चात्य सभ्यता के सूत्रों से भी अपना निर्माण करने लगी हैं; वे पत्नी भी हैं, गृह-संचालिका तो हैं ही। साथ ही उनमें अपनी और पुरुष की आन रखने का तेज भी है। निश्चय ही वे मौन्दर्यवती नहीं बनी, पर शक्ति और तेज का आगार हैं—वे चाहे शक्ति के शिखर पर हों, जैसे बुन्देलखण्ड तथा राजपूताने के शौर्य की कहानियों में, अथवा अरुद्ध हो, किसी अन्तर के प्रकाश से वे जगमगा रही हैं। सबसे निकृष्ट उदाहरण 'गृहदाह' की 'देवप्रिया' का लें तो भी हमें मिलता है कि 'सीत' की गोदावरी की भाँति वह स्वयं अपनी मनोधारणा से अपने नाश के तन्तु उत्पन्न कर रही है जो उसे घेरे रहते हैं, पर वह जो कुछ है वह अग्नि-ऊँच से कम नहीं और उसके निश्चय का जो प्रज्वलन है उससे झुलस न जायें इस कारण उसके पति और पुत्र उससे दूर-दूर रहते और होते चले जाते हैं। आज्ञाकारिणी होती हुई भी यह प्रेमचन्द की पात्री सर्वतः मानव के मोह या लोभ में, उसके विकारो या व्यक्तित्व में, विलास नहीं हो गयी, न वह इतनी लोचवान बनी है कि अपना अपनत्व पूर्णतः संकुचित हो जाने दे। 'शान्ति' में ही इसे देखा जा सकता है। पत्नी की आज्ञा में चलते हुए भी वह तुरन्त ही उससे पृथक् व्यक्तित्व की छटा छिटकाने लगती है। पर इन स्त्रियों के पास व्यंग नहीं, सारगर्भित चुटीली मुद्रायें नहीं, अपने को छिपाते चले जाने, अपने प्रेम या भाव को गुप्त बनाकर उसे अधिक

उग्र बनाने, भड़काने या कसकाने के कौशल से ये स्त्रियाँ सर्वथा शून्य हैं, और यहीं वे 'शरद' की स्त्रियों से कमजोर हैं। और यही कमजोरी इनका बल है। प्रेमचन्द की ये स्त्रियाँ दीन नहीं बनती। 'विध्वंस' की भुनगी भी तो श्रीहीन, दीन, विपत्तिग्रस्त होते हुए भी दैन्य के वश नहीं हुई और उसका यह रूप विविध परिभाषाओं में से प्रकट नहीं होता। स्पष्ट धरातल पर स्पष्टवादी व्यक्ति की भाँति बिना अन्तर-बाहर का संवर्ष उपस्थित किये ही यह स्त्री अपना सारा कर्म कर्तव्य करती हुई चली जाती है, और अपना स्थान बनाये रहती है। इन्हीं कहानियों में पहले-पहल हमें स्त्रियों के विशेष मनोवैज्ञानिक पहलुओं की पूर्ण भाँखियाँ मिलती हैं। हाँ, इन सब में कहानीकार ने यह अवश्य माना है कि स्त्रियाँ आधिक्य-प्रिय होती हैं।

इन कहानियों में कुछ संविधानात्मक (Structural) विशेषतायें भी आगयी हैं—पहले तो यही बात है कि ये कहानियाँ एक शैली में नहीं लिखी गयीं। दूसरी अवस्था में प्रायः आठ ढङ्ग की कहानियाँ मिलती हैं। प्रारंभिक कहानियों में शैली का साम्य था—सभी कहानियाँ प्रायः एक ढङ्ग में लिखी गयी थीं। 'परीक्षा' नाम की कहानी में कुछ भिन्नता आयी थी, पर वह कोई विशेष प्रभाव नहीं डाल सकी। इस दूसरी अवस्था में कहानीकार ने विषय-विस्तार के साथ शैली की विविधता पर भी जोर दिया है। उसने एक नहीं आठ आठ शैलियों (Structural ways) का प्रयोग किया है।

एक शैली है पूर्वोत्तर प्रणाली। इस प्रणाली की कहानियाँ में एक प्रकार से दो भाग हो जाते हैं, और दोनों भाग साधारणतः एक-एक अलग कहानी बन सकते हैं। इसका उदाहरण देने के लिए 'आत्माराम' कहानी ली जा सकती है। स्पष्ट ही इसमें दो

कहानियाँ हैं—एक कहानी है महादेव का तोता उसके पिंजड़े से उड़ जाता है, वह उसके पीछे मोड़ की भाँति भागा फिरता है; बन में भटकता फिरता है, वहीं रात्रि हो जाती है। जिस पेड़ पर तोता बैठा है उसी के नीचे बटवारा करने के लिए चोर बैठते हैं। महादेव उनकी ओर बढ़ता है, वे भाग जाते हैं। महादेव के हाथ मुहरों का कलश पड़ जाता है। वह तोते को धन्यवाद देता है, तोता भी उड़कर स्वतः पिंजड़े में आ जाता है। बस यहाँ पहली कहानी समाप्त हो जाती है। जिस प्रकार किसी वाक्य में एक समाविका क्रिया (finite verb) होती है, उनी प्रकार किसी कहानी में एक ही मुख्य घटना होती है। अधिक प्रधानता रखनेवाली घटनाओं के योग से जो कहानी बनती है वह संश्लिष्ट वाक्य (complex अथवा compound sentence) की भाँति संश्लिष्ट कहानी होती है। प्रेमचन्द की पूर्वोक्त प्रणाली उम संश्लिष्ट कहानी के अन्तर्गत आती है। तोते के उड़ जाने और फिर पिंजड़े में आ जाने के साथ धन मिल जाने की घटना एक ही घटना है और वह पूर्ण हो जाती है तोते के पिंजड़े में आ जाने पर। इस कारण एक कहानी यहाँ समाप्त हो जाती है। किन्तु—प्रेमचन्द यहाँ रुक नहीं गये। उनकी मानसिक संयोजना में अभी कहानी का पूर्व रूप—घटना रूप समाप्त हुआ है, कहानी का कारण भाग समाप्त हुआ है, उसका प्रभाव-श्रोतक रूप, उसका कार्य-भाग भी तो आना चाहिए, क्योंकि यहाँ तक कहानी घटना प्रधान है, दैवी तत्व (super human factor) से आक्रान्त है। तो, अब उसका उत्तर-रूप भी आना चाहिए तभी कहानी पूर्णता प्राप्त करेगी—और इसीलिए इससे आगे प्रेमचन्द कहानी लिखते हैं—रुपया लेकर महादेव घर गया, उसने कथा बिठाई, अपने अबतक के सारे पापों की क्षमा माँगी। उसने चाहा कि जो कुछ भी दूसरों का उस पर चाहिये वह सब पाई-पाई चुका दे, सब अपना हसाव

बताएँ। पर कोई नहीं आया। महादेव तीर्थ को चला गया, तोते की समाधि बन गई। यह दूसरी कहानी हुई। इसमें भी समापिका क्रिया की भाँति, वाक्य जैसे कहानी को पूर्ण कहानी बनाने को, समापिका घटना (finite event) विद्यमान है—वह भले ही अधिक मनोवैज्ञानिक हो। महादेव का हिसाब चुकता करने की घोषणा वह घटना है।

किसी भी कहानी में समापिका (निश्चयात्मक घटना) (finite event) ही उसे पूर्ण कहानी नहीं बनाती। उसकी गति (process) मन्दगति से प्रभावित हो, उठान और उत्कर्ष के लिए व्यग्रता से अग्रसर होकर चरम अथवा मूर्धन्य पर पहुँच कर बुदबुद की भाँति, दूध के उफान की भाँति, एकदम ही शान्त हो जाने की प्रक्रिया भी कहानी को कहानी का रूप देती है। 'आत्माराम' को हमने जिन दो कहानियों में समापिका घटना (निश्चयात्मक घटना) के आधार पर विभाजित किया है वे कहानियाँ गति (process) की दृष्टि से भी पूर्ण हैं। तोते के लिए 'महादेव के चाब' से कहानी की मन्थर गति आरंभ हो, तोते के पिंजड़े से उड़ जाने पर व्यग्र हो उठती है, महादेव के मन की तोते के लिए भटक और परेशानी कहानी के साथ साथ उग्र ही होती जाती है कि दैवयोग (Accidental event) से चोरों का धन मिल जाता है—और वह व्यग्रता एकदम उपशम हो जाती है—चरम पर कहानी पहुँचते ही उफान बैठ जाता है और उपसंहार में, कहानी की गति में व्यवस्था लाने के लिए, तोता भी पिंजड़े में लौट आता है। ठीक इसी प्रकार दूसरे भाग की कहानी में भी महादेव की प्रवृत्ति में धार्मिकता का जागृत होना—वह आरंभ है जिससे कथा का आयोजन धीरे-धीरे चलता है आश्चर्य और अनहोनी के से भावों के बीच में होकर, महादेव की ऋण-चुकाने की महती घोषणा उस

कहानी को तीव्रगति से 'चरम' पर पहुँचा देती है। इससे ऊँचा चढ़ाव अब कहानी में नहीं हो सकता, और उपसंहार में कहानी को संदेह देने के लिए महादेव तीर्थाटन को चल देता है, तोते की समाधि बन जाती है—कहानी, दूसरी भी समाप्त।

यों इस एक कहानी में ही दो भाग हैं, एक पूर्व और दूसरा उत्तर। पूर्व कारण की चेष्टा प्रदर्शित करता है, उत्तर कार्य की। पूर्व घटना को उत्तर प्रभाव को। पूर्व घात (action) को उत्तर प्रत्यघात (reaction) को। इस प्रणाली को अचानक समय कहानीकार दो घटनाओं को समापिका घटनाओं की भाँति नहीं देखता वह उन्हें एक समस्त व्यापार समझता है, और कारण और कार्य जिस प्रकार एक ही समझे जायेंगे उसी प्रकार इन कहानियों में आने वाले दो पहलू मुख्यतः एक ही समझे जायेंगे। उन संश्लिष्ट कहानियों को प्रेमचन्दजी एक ही कहानी इम घात-प्रतिघात (action-reaction) अथवा कार्य-कारण (cause and effect) की परंपरा के अविच्छिन्न होने के आधार पर ही नहीं समझते, वे इन्हें एक कहानी इसलिए भी बनाते हैं कि अर्थ (purpose) की एकसूत्रता इनमें असंदिग्ध है और इस एकसूत्रता में वे गति (process) भी एक ही समझते हैं। 'आत्माराम' की कहानी यदि धन-प्राप्त हो जाने और तोते के लौट आने तक ही समाप्त हो जाय तो उसमें अर्थ क्या रहे? लेखक की दृष्टि में अर्थ की इकाई (unity of purpose) ही सब कुछ हो लेती है।

कहीं-कहीं कहानीकार ने घात के बाद आने वाले प्रतिघात को सूक्ष्म (Suppress) कर दिया है। यह एक दूसरी प्रणाली है, जिसे पूर्वोपसंहार प्रणाली कह सकते हैं। इस प्रणाली की कहानी में दो भाग तो स्पष्ट हो जाते हैं, पर उत्तर भाग स्वतंत्र कहानी के आवश्यक तत्वों को पूर्ण नहीं करता, जैसा पूर्वोत्तर

प्रणाली में होता है। इस प्रणाली में वह पूर्व के उपसंहार की भांति आकर रह जाता है। उदाहरणार्थ 'बूढ़ी काकी' में कहानी उस समय पूर्णता को पहुँच जाती है, जहाँ चरम के रूप में 'बूढ़ी काकी' जूठी पत्तलें चाटने जा बैठती है और घर मालकिन की आँखें खुल जाती हैं और उसके हृदय से पाश्चात्ताप की लपट निकल पड़ती है। पर कहानी यहाँ न रुक कर आगे बढ़ जाती है। गृह मालकिन ने फिर क्या किया, कैसे अपने घात (action) का प्रतिघात (reaction) उसने सँभाला; कैसे पूर्व भाग के उत्तर की भांति ही उसने बूढ़ी काकी को भोजन कराया और आशीर्वाद ग्रहण किया—यह सब कहानी के पूर्ण हो जाने के पश्चात् है, अतः साधारणतः यह कहानी का अंश नहीं बनता, स्पष्ट अपना पृथक् अस्तित्व रखता है, और इसी कारण कहानी में इस 'उपसंहार' के साथ दो भाग हो जाते हैं, दोनों एक प्रकार से अपनी-अपनी प्रधानता रखते हैं, फिर भी ऊपर कही गई पूर्वोत्तर प्रणाली की कहानियों की भांति ये 'पूर्वोपसंहार' वाली कहानियाँ भी 'प्रेमचन्द' की उस 'अर्थैक्य' वाली मनोवृत्ति में एक ही कहानी के अङ्ग की भांति उपस्थित होती हैं।

इस प्रणाली से आगे है वह 'प्रणाली' जो बड़ी कहानी की प्रणाली कही जा सकती है। इसमें समापिका (निश्चयात्मक) घटना भी एक ही होती है। अन्य घटनाएँ वाक्य में (Phrases और Sub-clauses) वाक्यांशों की भांति आती हैं, समापिका घटना को ही प्रोद्भासित करती हैं अथवा एक ही आकांक्षा से उद्भूत हुई होती हैं। इसमें गति भी मन्द मन्थर से तीव्र होती हुई चरम पर पहुँच कर अनायास बैठ जाती है। उफान की भांति शान्त हो जाती है। उपसंहार मिलता है पर स्वतन्त्र अस्तित्व से शून्य।

दूसरे शब्दों में उपसंहार की घटना समापिका घटना का ही अंश बन कर, उसके साथ ही आती है उसके उत्तरांश की तरह नहीं। नागपूजा की समापिका घटना है प्रोफेसर को अपनी स्त्री में प्रेत का ज्ञान होते ही गोली मार देना और सांप का गिर पड़ना, फलतः स्त्री का ठीक हो जाना। यहाँ स्त्री के ठीक हो जाने का वर्णन उपसंहार कहा जायगा पर वह कहानी की मुख्य घटना में से चू पड़ा है, अतः स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रखता। 'विध्वंस' में समापिका घटना है भुनगी की भोंपड़ी में आग लगना और उसमें भुनगी का क्रूर पड़ना, फलतः आग का उग्र होकर जमीन्दार के मकान को भस्म कर देना भी घटना का अंग बन जाना है। उपसंहार का अलग स्थान उसे नहीं मिल सकता।

प्रेमचन्द जी ने इस दूसरी अवस्था में ऐसी कहानियाँ भी लिखी हैं जिनमें दो कहानियाँ ताने बाने की भाँति बुनी हुई हैं; जैसे छपन्यास में बुन जाती हैं। यह प्रणाली 'द्विसंश्लिष्ट प्रणाली' कही जा सकती है। इसका उदाहरण—'आभूषण' कहानी है। इसमें दो कहानियाँ हैं—एक कहानी सुरेश और पंगला की है, दूसरी विमला और शीतला की है दोनों एक दूसरे से स्वतंत्र हैं, पर एक दूसरे से अभिन्न होकर निपटी हुई भी हैं दोनों स्वयं पूर्ण हैं, पर दोनों ही एक दूसरे की अनिवार्य सहायता कर रही हैं। यह उपरोक्त तीनों कहानियों से हर प्रकार से भिन्न है, फिर भी कहानी एक ही है, वह भी केवल इसलिए नहीं कि बहुत घनी बुनी हुई है, बल्कि इसलिए भी कि उन दोनों की समापिका घटना एक ही है। एक ही स्थान पर दोनों कहानियों की 'चरमावस्था' मिलती है, वह है विमल की मृत्यु का क्षण और शीतला की निष्ठुर हृदयहीनता, जिससे विमल और शीतला की कहानी तो एकदम समाप्त ही हो जाती है, और सुरेश की कहानी प्रतिक्रिया

के रूप में आगे चल देती है और भटका हुआ सुरेश फिर मंगला को पा लेता है।

तब कुछ ऐसी भी कहानियाँ हैं जिनमें एक व्यक्ति के सूत्र-सम्पर्क से कई पृथक् घटनायें अथवा भाँकियाँ एक में गुंथ गयी हैं—इन्हें 'शृंगखला बद्ध कहानी' कह सकते हैं। उदाहरणार्थ 'नैराश्यलीला' है; विधवा कैलाशकुमारी को सुखी बनाने के लिए जा विविध आयोजन एक-एक कर सामने लाये जाते हैं वे अलग अलग भाँकियों की भाँति होते हुए भी 'कैलाश-कुमारी' के सूत्र से एक में बँधे हैं। शिकारी राजकुमार में भी इसी प्रकार कई दृश्य अलग अलग दिखायी पड़ते हैं और वे सब साधु और राजकुमार के सूत्र से एक में बँधे हैं।

यहीं वे कहानियाँ भी रखी जानी चाहिए जिनमें 'आत्मकथा प्रणाली' को अपनाया गया है। मुख्य मुख्य पात्र अपनी अपनी बात स्वयं कहते हैं और उनके उन वक्तव्यों से कहानी बनती चलती है, वैसे ये कहानियाँ बहुधा 'शृंगखला बद्ध' ही कही जायेंगी। ब्रह्म का स्वाँग, हार की जीत, और बौद्धम ऐसी ही कहानियाँ हैं।

फिर ऐसी भी कहानियाँ हैं जो निश्चय छोटी कहानी (short story) कही जानी चाहिए। इनका भूमिका-पट बहुत संकीर्ण है, अर्थ की इकाई में भी सूत्र दीर्घ नहीं, पात्र कम से कम घटना प्रायः एक ही, कम से कम अवकाश की, जैसे विमाता; परीक्षा।

अन्त में, एक कहानी ऐसी भी है जो 'विलक्षण आरंभ' को कहानी कही जा सकती है। उपरोक्त सभी प्रणालियों की कहानियों में कहानी सूत्र सीधा सादा रहता है—सरल रूप से प्रवा-

हित होता चला जाता है— किन्तु 'धर्म संकट' कहानी में वह रूप नहीं। आकस्मिक ही उसका आरंभ होता है।

प्रेमचन्द की कहानियों में, यहाँ तक, आरंभ में ही भूमिका रूप 'परिचय' एक नियम-मा मिलता रहा है। हम पहले पात्रों के नाम-मात्र से परिचित होकर तब आगे कहानी के लिए बढ़ते हैं, अथवा पात्रों के विचारों के लिए बढ़ते हैं। पर 'धर्म संकट' में इस नियम का उल्लंघन है। बिना जाने वूफे पात्र हमारे सामने आ खड़े होते हैं, उनका नाम रंग तक हमें ज्ञात नहीं—केवल वार्तालाप उत्तर-प्रत्युत्तर सुन पड़ता है और कहानी आरम्भ हो जाती है। इसी कहानी में हमें 'प्रेमपात्र' भी पूर्ण विस्तार और सुशीर्षकों के साथ पहली बार पढ़ने को मिलता है। 'धर्म-संकट' अपनी शैली की एक ही कहानी है, इस दूसरी अवस्था की कहानियों में इस शैली का दूसरा आवर्तन नहीं हुआ।

कहानियों के इन प्रकार-भेदों के साथ कहानियों में स्वभाव-भेद भी मिलता है। यह आरम्भिक कहानियों में नहीं था। अधिकांश कहानियाँ तो स्वभाव में सीधे सादे चलन की कहानियाँ हैं, गंभीर दार्शनिक अथवा आचारवेत्ता की भाँति अपने संयत मार्ग पर आरुढ़। कुछ रूपक कहानियाँ हैं—(Allegories) हैं। ज्वालामुखी, सेवा-पथ आदि। 'हास्य' पर भी लेखक ने प्रयोग किया है, एक कहानी 'सत्याग्रह' में, पर वह हास्य 'परिहास-चित्र' के जैसा हास्य है। राजनीतिक समस्या की गरिमामयी कथा की तीलियों पर यह कहानी खड़ी हुई है, अतः स्वभाव में हास्य लाने की चेष्टा भी गम्भीर होगयी है। फिर 'व्यंग कहानियाँ' इस अवस्था की कहानियों में निश्चय ही विशेष स्थान रखती हैं। 'स्वत्व-रक्षा' 'अधिकारचिंता' जैसी कहानियाँ व्यंग-कहानियाँ हैं।

इनमें भी 'अधिकार चिंता' का व्यंग तो प्रतीकात्मक रूपक का जैसे सहारा लेकर ही तीव्र हुआ है। 'दामो' कुत्ता रूपक की भाँति भी है, और प्रतीक तो है ही।

इस अवस्था की कहानियाँ में वे कहानियाँ न भूली जानी चाहिए जो रोमांस के मधुर रस से हलके हलके भिक्त होती हुई राजमूत और बुन्देला के शौर्य और आन के पावन ओजपूर्ण चित्र हमारे समक्ष रखती हैं। बाहर के अनिष्ट-कर, लगने वाले मंकुचित प्रतिबंधों में से जिनका अमर्म सहस्रकरों से प्रोद्धासित हो रहा है।

इन्हीं दूसरी अवस्था की कहानियों में हम पशु-जगत के प्राणियों की कहानी का पात्र बनते हुए देखते हैं। स्वत्व-रक्षा में घोड़ा, अधिकार-चिंता में कुत्ता कितने सजीव होकर आये हैं। यों 'पत्नी' भी छूटे नहीं, आत्माराम का 'तोता' आँखों के समक्ष उड़ता दीखता है, पर उसमें 'तोते' का कोई व्यक्तित्व अंकित नहीं हो पाया। इन कहानियों में से कुछ में लेखक ने एक और विशेषता रखी है। उसने 'अपराध या चोरी' की कहानी में अवश्य स्थान दिया है। आत्माराम में चोर आते ही हैं, मूठ की कहानी चोरी की कहानी है, ईश्वरीय न्याय में 'चोरी' का प्रसंग है ही, पूर्व-संस्कार में चोरी को ही पाप बताया गया है, 'गुम-धन' चोरी है, प्रारब्ध में नायक नास्तिक होने के बाद चोर हो जाता है, सचवाई के उपहार में चोरी, विस्मृति में चोरी-छिपे प्रेम, बूढ़ा काकी में चोरी से भोजन, हार की जीत में चोरी से प्रेम.....

यहीं हम लेखक की मान्यताओं और विश्वासों की भी समझ लें—सबसे पहले लेखक मनुष्य की मौलिक सद्गुति को मानता है, दूसरे शब्दों में वह यह मानता है कि मनुष्य पाप

भीरु होता है। ईश्वरीय न्याय में स्वयं लेखक की यह टिप्पणी है:—

“कुछ विद्वानों का कथन है कि मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति पाप की ओर होती है, पर यह कोरा अनुमान ही अनुमान है; बात अनुभव सिद्ध नहीं। सच बात तो यह है कि मनुष्य स्वभावतः पाप भीरु होता है और हम प्रत्यक्ष देख रहे हैं कि पाप से उसे कैसी घृणा होती है।”

लेखक का यह विश्वास इस अवस्था की प्रत्येक कहानी में साधारणतः व्याप्त मिलता है। वह यह भी मानता है कि यह प्रवृत्ति बहुत काल तक दबी रहती है, उसके जागृत होने में कभी कभी बहुत समय लगता है, और जो मनुष्य इसे बलात् दबाये रहते हैं, वे इस विवशता के कारण विविध यातनाएँ अनुभव करते हैं। ‘गरीब की हाय’ में जो पीड़ा मुन्शीराम सेवक का हुई है, अथवा ‘गुप्त धन’ में हरिदास और उनके पुत्र को हुई है वह ‘पाप’ के भोरभाव को उद्योग से परास्त करने के कारण हुई है। तो इस मौलिक सद्बृत्ति में विश्वास करते हुए भी प्रमचन्द्र वास्तविक जगत से ऐसे प्राणियों का चित्र उपस्थित करना नहीं भूले जो पाप की ओर प्रवृत्त हो गये हैं और पूरी सीमा तक उसमें प्रवृत्त होते चले गये हैं।

मानव-चरित्र की इस मान्यता में हमें यह भी विदित होता है कि उनके कुछ पात्र कोमल हैं—उत्तम हैं बाहर भीतर एक से, ‘अंगूर’। कुछ मध्यम हैं, पाप-भीरु हैं पर कुछ निष्ठुर—मूठ के डाक्टर की भाँति। ये एक सीमा तक ही निष्ठुर हो पाते हैं। तीसरे हैं अधम। ये विकार के मार्ग में बढ़ते ही चले जाते हैं। पाप का भय इन्हे भी नहीं छोड़ता। पर ये दम तोड़ते ही उससे परास्त होते हैं—और ऐसे भी हैं कि मृत्यु तक से विचलित नहीं होते। हाँ मृत्यु के बाद का भय इनके लिये भारी

बैठता है ।

यहाँ उन्होंने यह भी स्पष्ट स्वीकार किया है कि 'प्रत्यक्ष घटना विचार से कहीं अधिक प्रभाव-शालिनी होती है । × इसी के साथ वे यह भी मानते हैं कि कोई कोई घटना अपना अप्रत्याशित प्रभाव रखती है । इन 'घटनाओं' पर मनुष्य का शासन नहीं रहता । कभी कभी वह इन घटनाओं को आमन्त्रित करने का साधन अथवा प्रेरणा अवश्य बन जाता है, पर एक चार गतिमान हो उठने पर उसके 'कर्त्ता' का उस पर अधिकार नहीं रहता । वह चलने लगती है और फिर अपनी गति से चलती है ।

इसी विश्वास के सहगामी निष्कर्ष की भाँति लेखक का यह विचार भी है कि सभी घटनाओं को भौतिक कसौटियों से अथवा वैज्ञानिक कार्य-कारण प्रणाली से नहीं जाना जा सकता । जैसे मानवीय भौतिक जगत से प्रथक ही, घटनाओं का एक लोक है और उनके कार्यक्रम का एक निजी एक रहस्य है । लेखक ने स्वयं अपने जीवन में देखा था कि उसकी वर्षों पुरानी संग्रहणी की बीमारी, जो अनेकों औषधियाँ के उपचार से भी ठीक नहीं हुई थी अनायास ही आन्दोलन में नौकरी छोड़ते ही ठीक होगयी थी । ☼ इसे अनात्मवादी घटना-संघात कह कर टाल देता, पर प्रेमचन्द को उसमें स्पष्ट ही एक उद्देश्य दीख पड़ता है । वे घटना को अलग, उसके अपने सम्पूर्ण तारतम्य से प्रथक करके नहीं देखते । उन्हें इसी कारण उसमें रहस्यमय सोद्देश्यता प्रतीत होती है । कहानियों में उस रहस्यमय शक्ति को उन्होंने बार बार स्वीकार किया है । 'लाल फीता' में तो

× मृठ

☼ कर्त्तन तथा अन्य रचनाएँ

अपने निजी जीवन के अनुभव को ही ठाकुर के द्वारा उन्होंने अभिव्यक्त करा दिया है—

“ठाकुर ने श्रद्धा पूर्ण भाव से कहा (हरिविलास से जब वे डिण्टी मजिस्ट्रेटी का पद-त्याग कर अपने गाँव लौटे हैं)—यह भूमि आपके चरणों से पवित्र होगयी। अब यहां सब कुशल है। कल प्रातःकाल पत्र खोला तो आप ही के आनन्द समाचार पर नज़र पड़ी। आपके साहस और पुरुषार्थ को धन्य है। मुझे महीनों से ज्वर आता था। पर सत्य मानिये यह शुभ समाचार देखते ही मैं चङ्ग हो गया। महीनों से दबाइयाँ खा रहा था, चार-पाई से उठना कठिन था। आज आपकी सेवा में खड़ा हूँ। ” इस अवतरण के मूल भाव का उपहास उड़ाया जा सकता है। क्योंकि यह यथार्थ, यथार्थ की श्रेणी में, यथार्थ के प्रचलित अर्थ में, नहीं रखा जा सकता। यहां जिस कार्य-कारण परम्परा का उल्लेख है वह साधारण बुद्धि के लिए असंभाव्य है। किसी का आना मात्र किसी की महीनों की बीमारी को कैसे ठीक कर सकता है। पर अपने जीवन में ही लेखक को जिस असंभाव्य का चमत्कार देखना पड़ा, उसने उससे भूत-यथार्थ के यथार्थ से आगे भी यथार्थ के यथार्थ को मानने के लिए विवश कर दिया।

तो इस विश्वास के साथ जब उसने लोक को देखा तो उसने यह जाना कि लोक-प्रचलित विविध ज्ञान-विज्ञान विरोधी बातें अयथार्थ नहीं। उनको निम्न धरातल पर मानकर हम ऊँची मनोवस्था से उसकी अवज्ञा करते रहें, पर अवज्ञा अथवा उपेक्षा उन्हें अयथार्थ नहीं कर सकती। वे ज्ञान-विज्ञान का दिवाला पीटने वाली घटनायें-बातें यथार्थ हैं। अतः प्रारब्ध है, पूर्व संस्कार है, पुनर्जन्म है, प्रेत है, भूत है, मंत्र-शक्ति है। स्वप्न में भी भाबी की सूचना का सूत्र मिल सकता है, और

कहीं अनायास ही शाप या आशीर्वाद की भाँति निकले शब्द भी ज्यों के त्यों घट सकते हैं। पर लेखक को यह भी मानना पड़ रहा है कि ये 'विलक्षण' कोटि की वस्तुयें हैं—साधारण जीवन के नियम के अपवाद की भाँति, ये अपना अस्तित्व रखते हुए भी जीवन के नियमों का व्यतिक्रमण हैं। इनकी असाधारणता जीवन के सर्वसाधारण नियमों को सिद्ध करती है; निश्चय ही ये वैज्ञानिक आधार पर नहीं हैं। इन सारी रहस्यमय अवैज्ञानिक बातों को लिए हुए जो जीवन चल रहा है, वह उद्योग पर निर्भर करता है, उद्योग के अभिमान पर नहीं। प्रारब्ध में जो मानव इतना विवश और मन में हारा हुआ बन गया है कि अपने आन्तरिक भय के कारण पूर्णतया पलायन-वादी होते हुए भी प्रारब्ध से ताल ठोक कर उद्योग का दम्भ दिखाने खड़ा होता है, वह इसी दम्भ के कारण है—और इसी दम्भ के कारण वह ऐसी भूलें करता है जो एक बौद्धिक मात्र को, एक नास्तिक को नहीं करनी चाहिए। उद्योग जहाँ शुद्ध और सात्विक है वहाँ उसे इस रहस्यमय शक्ति का भी सहयोग मिलता है।

पर इस उद्योग की स्वतंत्रता का अर्थ है 'सत की ओर संलग्नता' जहाँ इसका उल्लंघन किया जायगा, आचार की सत्य-सीमाओं में बाँध कर न रहा जाय, वहाँ किया हुआ कृत्य 'पाप' कहलायेगा। और इसका फल भोगने के लिए बड़ी से बड़ी 'आत्मा' को पुनर्जन्म ग्रहण करना होगा। पाप पाप है, उसे प्रोत्साहन न देना ठीक है, और उसे अनुष्येतर शक्ति भी सदन नहीं कर सकती।

इस उद्योग की स्वतंत्रता यदि मानव को है, तो उसकी इच्छा-शक्ति की स्वतंत्रता भी माननी पड़ेगी। इच्छा-स्वातंत्र्य के बिना

‘उद्योग’ कोई अर्थ नहीं रखता, और ‘पाप’ करना अथवा भोगना निरर्थक हो जायगा। इच्छा-स्वातंत्र्य ही मनुष्य को उद्योग का कर्त्ता बना कर उसे उद्योग के फलाफल का उत्तरदायी बनाता है। इस इच्छा-स्वातंत्र्य के साथ मानसिक प्रक्रियायें संलग्न हैं। मनुष्य में मत-परिवर्तन इसी मान्यता से कराया जा सकता है। एक पूर्व पूर्ण-निर्णय में विश्वास रखने वाले या पूर्ण भाग्यवादी की दृष्टि में मतपरिवर्तन और उद्योग कुछ महत्त्व नहीं रखते। मनुष्य मनोवस्था के परिवर्तन से संकल्प-विकल्प तथा अपने अभिप्रायों में एक दम बदल जाता है, परिस्थितियों की प्रतिक्रियायें भा उसके मानसिक-क्षेत्र का निर्णय करती हैं—इस प्रकार मानव का हृदय परिवर्तन शील है। वह परिवर्तन मानसिक प्रक्रियाओं के कारण होता है, और अनायास चमत्कार रूप में भी।

परिस्थितियों में उसने ‘धन’ के महत्त्व को अत्यन्त घातक माना है। यो ‘आत्माराम’ में वह यह अवश्य बलपूर्वक कह देना चाहता है कि ‘धन’ में स्वयं कोई विकार नहीं, कोई पुरुष अपने भाव और उद्योग से अपनी प्रकृति को शुद्ध रखे तो धन स्वयं उसका कुछ बिगाड़ नहीं सकेगा। पर ‘धन’ ने जो महत्त्व प्राप्त कर लिया है, उस सामाजिक विधान में, वह अक्षम्य है, धन से हमें जो शक्ति मिलती है, वह मदान्ध कर देती है, करती है। ‘मुक्तिमार्ग’ की कहानी इसीलिए सर्व साधारण की कहानी है। आत्माराम से अधिक मनोवैज्ञानिक और यथार्थ।

और प्रेमचन्द दुःख के साथ यह मानते हैं कि वर्तमान शिक्षा-सभ्यता ने जो यथार्थ हमें दिया है, वह भौतिक-यथार्थ (materialistic real) पूर्ण सत्य नहीं। मानवी गुण, सेवा, प्रेम और त्याग की अवहेलना से काम नहीं चल सकता। भौतिक-पेश्वर्य के

साथ इन शक्तियों का विलास न होने से मानव समाज की सारी कहानी एक भयंकर विघटन बन गयी है।

इतनी जो ये मान्यतायें बतायी गयी हैं यद्यपि वे रह रह कर मानवीय सेवा, प्रेम और त्याग की अचूक शक्तियों के सामने पराजित होती हुई सी प्रतीत होती है—पर कहाँ वे अपने संदेश अथवा स्वर-रेखा में स्पष्ट उभार दिखा सकी हैं ? एक एक कहानी एक एक संदेह और प्रश्न की भांति, एक दूसरे के उत्तर के समान खड़ी होगयी हैं—प्रेमचंद का कोई भी नश्चयात्मक विश्वास इन कहानियों में नहीं बताया जा सकता, पर उन विश्वासों के बाज बाध अवश्य गये हैं। अतः यह दूसरी अवस्था मध्य-अवस्था है। इसमें लेखक अपने विचारों और विश्वासों के चौराहों पर खड़ा हुआ यह विचार रहा है कि आगे क्या ?

इस सब विश्लेषण के उपरान्त हम यह समझने में समर्थ हो सकेंगे कि इस दूसरी अवस्था की समाप्ति तक पहुँचते पहुँचते लेखक ने कहानी-कला के किस धरातल को प्राप्त कर लिया था। यों तो 'कहानीकार' की इस दूसरी अवस्था की कहानियों की वह परिभाषा हम मान लेंगे जो उसने प्रेमदादशी में बतायी है—

'वर्तमान आख्यायिका का मुख्य उद्देश्य साहित्यिक रसा-स्वादन कराना है और जो कहानी इस उद्देश से जितनी दूर जा गिरती है, उतनी ही दूषित समझी जाती है।

लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं कि वर्तमान गल्प-लेखक कोरी गल्पें लिखता है, जैसी बोभाने-खयाल या तिलम्मे-होश-रुवा हैं। नहीं, उसका उद्देश चाहे उपदेश करना न हो, पर गल्पों का आधार कोई न कोई दार्शनिक तत्व या सामाजिक विवेचना अवश्य होता है। ऐसी कहानी, जिसमें जीवन के किसी अङ्ग पर प्रकाश न पड़ता हो, जो मनुष्य में सुदृढ़ भावों को हृदय

करे, या जो मनुष्य में कुतूहल का भाव न जाग्रत करे, कहानी नहीं।”

‘योरप और भारतवर्ष की आत्मा में बहुत अन्तर है। योरप की दृष्टि सुन्दर पर पड़ती हैं, पर भारत की सत्य पर।’.....’

यह परिभाषा कहानी की है। कहानी की कला पर इसमें प्रकाश नहीं डाला गया। कला और कला के विषय (Art Contents) का भेद प्रेमचन्द जी समझते न हों ऐसी बात नहीं! पर उन्होंने अपनी निजी विशेषता के कारण कहानी की परिभाषा उन शब्दों में दी है जो सर्व साधारण भली प्रकार समझ सकता है, जो अमूर्त्त (Abstract) नहीं, मूर्त्त है। ‘कला’ को जब देखा जायगा तो वह अमूर्त्त ही प्रतीत होगी, मूर्त्त उसका विषय ही हो सकता है, और इसी कारण प्रेमचन्दजी ने विषय और उनकी प्रवृत्ति की व्याख्या करके ही कहानी का परिचय दिया है। पर कहानी अपने विषयों और प्रवृत्तियों के कारण कहानी नहीं, वह इसलिए कहाना है कि वह कहानी है, कुछ और नहीं। इस कहानी-कला की पूर्ण व्याख्या हमें यहाँ नहीं करनी; यहाँ तो उसमें इस द्वितीय अवस्था तक जो विकास हुआ है उसी को समझना है।

आरंभिक कहानियों में ‘परीक्षा’ को और ‘सज्जनता का दण्ड’ को अनगढ़ कहानी कह सकते हैं। इससे बाद की पर्याप्त विकसित कहानी ‘पंच रमेश्वर’ है, ‘बड़े घर की बेटी’ में लेखक ने अपनी प्रारम्भिक कला को चरम उत्कर्ष पर पहुँचा दिया। दूसरी अवस्था में ‘आत्माराम’ कहानी ‘बड़े घर की बेटी’ से आगे बढ़ कर, नवीन कहानी के तत्वों को लेकर इस अवस्था की कहानी-कला की नींव की भाँति बनी, तब इस अवस्था की कहानी का विकास-मूत्र ‘मुक्तिमार्ग’ ‘दफ्तरी’ और ‘डिक्की के रुपये’ में होता

हुआ अपने पूर्ण उत्कर्ष पर 'शतरंज के खिलाड़ी' में पहुँचा ।

'परीक्षा' और 'सज्जनता का दण्ड' में कला अपना कोई रूप नहीं खड़ा कर सकी, जैसे उसे जो विषय दिया गया वह उसकी प्रवृत्ति के अनकूल न हो, उनके शब्द और वाक्य अर्थ तो रखते हैं, पर प्राण नहीं । उनका कथा-विन्यास अपनी तीलियाँ जमा नहीं सका, वह जान नहीं पाया कि बात कह देना भर कहानी नहीं । कहानी की आत्मा यहाँ लेखक की असमर्थता पर—इस असमर्थता पर कि वह अपनी विधायक कल्पना का पूरा उपयोग क्यों नहीं कर रहा, लुब्ध हो रही है । और लेखक प्रसन्न है कि उसने अपनी बात कह दी है, कहानी का क्या ? और, यह क्या रूप-रेखा में कहानी नहीं । वह अभी क्या जाने कि कभी कभी ऐसी भी 'कहानी' खड़ी हो जाती है जो 'कहानी' की हत्या करने वाली होती है । पर निश्चय ही ये कहानियाँ कहानी की हत्या के लिए नहीं लिखी गयीं—ये तो उसे अनुप्राणित करने के बीज बनी हैं । इनके अभाव का कारण कहानीकार में ईमानदारी का अभाव नहीं, आरंभिक अवस्था की अपनी स्वाभाविक अड़चनें और परिमितियाँ ही है । 'पंच परमेश्वर' में शीघ्र ही हम देखते हैं, कि कहानीकार की कहानी-कल्पना का वह अंकुर पूर्ण पल्लवित हो उठा है—उसका क्षेत्र एक दम विस्तृत हो गया है । वर्षा काल में उग पड़ने वाली हरियाली की भाँति, कहानी-कल्पना ने आवश्यक-अनावश्यक का ध्यान नहीं रखा । किन्तु, इसमें भी चेतना उदय हुई और 'बड़े घर की बेटी' में उस कहानी-कल्पना ने अपने को सम्हाल लिया कल्पना अब विस्तृत रंगीनी में मुग्ध न होकर फिर अपनी सीमाएँ बाँधने लगी है, और उसी सीमा में, विस्तार के विपरीत, गहराई में रहने की चेष्टा करती विदित होती है ।

इस प्रकार जब द्वितीय अवस्था आजाती है तो 'कल्पना' उस 'गहराई' में और नीचे उतर जाती है। 'बड़े घर की बेटी' में वह विविध मूर्त रूपों को इस प्रकार संकलित करने में व्यस्त थी कि वे घनिष्ठ हो कर संयोजना (Composition) का सौन्दर्य उपस्थित करे। यहाँ दूसरी अवस्था के आरंभ की कहानी ने इस अवस्था के कहानी-विकास की नींव 'आत्माराम' में अपना पहलू बदल लिया है। संयोजना का सौन्दर्य अच्युत ही नहीं रहा, वह प्रकाशित भी हो उठा है। उसके विषय 'बड़े घर की बेटी' से अधिक विलक्षण हैं, क्योंकि दैव और दैवयोग के आश्रित हैं, फिर भी उन सबमें कला ने अपनी रजत मुस्कान भर दी है। उनमें अवसाद नहीं जैसा 'बड़े घर की बेटी' में रहता है। 'बड़े घर की बेटी' की 'संयोजना' मात्र सुन्दर है, और क्योंकि कहानीकार वहाँ संयोजना तक ही पहुँच कर रुक गया है वह उस सुन्दरता को प्रोद्भासित नहीं कर पाया। यहाँ वह संयोजना का सौन्दर्य भी है, पर कहानीकार संयोजना तक ही नहीं रहा, उसने उस संयोजना को उसके भीतर किसी केन्द्र की ओर उन्मुख करके उसे उद्घेलित और कर दिया है, इसी कारण यहाँ अवसाद नहीं है। यहाँ है एक गति और प्रकाश जो इस संयोजना के सौन्दर्य से गहरा उतर गया है। और तब वहाँ उस 'संयोजना-सौन्दर्य' से उद्भूत प्रकाश में दीख पड़ता है वह केन्द्र जो 'संयोजना-सौन्दर्य' के समान पहले 'जड़' फिर तन्द्रित और तब जाग्रत हो उठा है। पहली कहानियों में तो कहानीकार ने कहानी की परिधि ठीक कर ली यहाँ आकर उसने उस परिधि को ज्यों का त्यों रख कर उसे केन्द्रमय बना दिया—केन्द्र फैल थोड़ा अवश्य गया है, पर परिधि भी उस केन्द्र का परिधि बन गयी है। वह केन्द्र जड़, तन्द्रित फिर जाग्रत हो उठा है—और तब आती है वह कहानी जो 'दफ्तरी' कहलाती है। इसमें जाग्रत

केन्द्र चैतन्य हो उठा है । 'संयोजना' की रूपरेखा विकृत होकर केन्द्र की चेतना और उसके सौन्दर्य को 'वैषम्य' से विशेष प्रत्यक्ष कराने लगी है । और—और 'शतरंज के खिलाड़ी, में तो इस नये पहलू का चरमोत्कर्ष हो गया है । केन्द्र ही परिधि बन बैठा है, उसका चैतन्य ही सौन्दर्य हो गया है । संयोजना का उद्देश्य यहाँ एक दम शान्त है, परिधि का कोई प्रभावशाली महत्व नहीं रहा है । आत्मानेष्ट, स्थितप्रज्ञ व्यक्ति की भाँति कहानी कल्पना ने 'शतरंज के खिलाड़ी' में अपना रूप अवस्थित कर दिया है ।—दैवयोग, कौतूहल, दुःख-सुख, विलक्षण अद्भुत हैं, आज, कल, काम, काज रहते हैं रहें, यह 'चैतन्य मानव-प्रमोद इन सबसे ऊपर है—और इसकी भाँकी कहानीकार ने नहीं उसकी कला ने स्वयं करली है, और वह भाँकी कला ने 'शतरंज के खिलाड़ी' में प्रकट होकर सबको करादी है । कहानीकार पहले स्वतः इस रूप पर स्तब्ध हो गया—वह समझ बैठा कि मिर्जा और मीर की लड़ाई भी लड़ाई है, तभी उसने कहा—'उनमें राजनीतिक भावों का अधःपतन हो गया था—बादशाह के लिए बादशाहत के लिये क्यों मरें ?' पर "वास्तव में कला अपनी केन्द्रीय उपात्तविधि के निकट पहुँच चुकी है, वहाँ पर लड़ाई कोई लड़ाई नहीं, केन्द्र का विसर्जन मात्र है—हृदय के सात्विक करुण-भाव के मोती चमका देने के लिए । कुछ काल बाद कहानीकार सावधान हुआ । उसकी स्तब्धता दूर हुई और तब उसने कहानी को उचित और उत्कृष्ट अन्त दिया :

“अंधेरा हो चला था । बाजी बिछी हुई थी । दोनों बादशाह अपने-अपने सिंहासनों पर बैठे मानों वीरों की मृत्यु पर रो रहे थे ।

“चारों तरफ सन्नाटा छाया हुआ था । खण्डहर की टूटी हुई

मेहराबें, गिरी हुई दीवारें और धूल धूसरित, मीनारें इन लाशों को देखती और सिर धुनती थीं ।”

चैतन्य मानव-प्रमोद के विसर्जन पर—प्रकाशित विशूतबल्व के एक दम बुझ जाने पर क्या होता है ? चतुर्दिक अंगकार और उसमें दीग्व पड़ता है क्या ? बुझते हुए बल्व के तार अंगारे से धूमिल होते हुए लाल ! तभी यहाँ लाश, खंडहर, धूनि धूसरित मीनारें, शतरंज के निर्जीव जड़ बादशाह जिनके लिये वह केन्द्र, वह प्राण, वह जीवन विसर्जित हो पड़ा ।

और यहाँ से आगे—कहानीकार ने तीसरा डग रखा ।—
भूः-भुवः दो डगों में विष्णु सृष्टि को संपूर्ण नहीं नाप सका—
तब तीसरा डग !

विकासोत्कर्ष

१९३० के लगभग प्रेमचन्द की कहानियों की दूसरी अवस्था समाप्त हुई। इससे आगे के ६ वर्षों में कहानी-कला का तीव्र गति से विकास हुआ। स्वयं प्रेमचन्द जी ने 'मानसरोवर' के प्रथम भाग में लिखा है :—

“पाठकों से यह कहने की जरूरत नहीं है कि इन थोड़े ही दिनों में हिन्दी-गल्प-कला ने कितनी प्रौढ़ता प्राप्त करली है। पहले हमारे सामने केवल बँगला कहानियों का नमूना था। अब हम संसार के सभी प्रमुख गल्प-लेखकों की रचनाएँ पढ़ते हैं, उन पर विचार और बहस करते हैं; उनके गुण दोष निकालते हैं, और उनसे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकते। अब हिन्दी-गल्प लेखकों में विषय और दृष्टिकोण और शैली का अलग अलग विकास होने लगा है। कहानी जीवन के बहुत निकट आ गई है। उसकी जमीन अब उतनी लम्बी चौड़ी नहीं है। उसमें कई रसों, कई चरित्रों और कई घटनाओं के लिए स्थान नहीं रहा। वह अब केवल एक प्रसंग का, आत्मा की झलक का, सजीव स्पर्शी चित्रण है। इस एकतथ्यता ने उसमें प्रभाव, आकर्षकता और तीव्रता भर दी है। अब व्याख्या का अंश कम, संवेदना का अंश अधिक रहता है। उसकी शैली भी अब प्रवाहमयी हो गई है। लेखक को जो कुछ कहना है, वह कम से कम शब्दों में कह डालना चाहता है। वह अपने चरित्रों के मनोभावों की

व्याख्या करने नहीं बैठता, केवल उसकी तालफ इशारा कर देता है। कभी-कभी तो संभाषणों में एक दो शब्द से काम निकाल लेता है। अब हम कहानी का मूल्य उसके घटना-विन्यास से नहीं लगाते। हम चाहते हैं, पात्रों की मनोगति स्वयं घटनाओं की मृष्टि करे। घटनाओं का स्वतंत्र कोई महत्त्व हा नहीं रहा। खुलासा यह है कि गल्प का आधार अब घटना नहीं मनोविज्ञान की अनुभूति है। आज लेखक केवल कोई रोचक दृश्य देखकर कहानी लिखने नहीं बैठ जाता। उसका उद्देश्य स्थूल सौन्दर्य नहीं है। वह तो कोई ऐसी प्रेरणा चाहता है, जिसमें सौन्दर्य की झलक हो, और इसके द्वारा वह पाठक की सुन्दर भावनाओं को स्पर्श कर सके।”

विकास की जो स्थिति प्रेमचन्दजी ने उपरोक्त परिभाषा में प्रदर्शित की है, वह हमें उनकी कहानियों में मिलती है, इसमें कोई संदेह नहीं। इसी काल में उनकी आघे के लगभग कहानियाँ लिखी गयीं। शैली और कला के विकास की ही अवस्था पूर्व की अवस्थाओं से भिन्न नहीं हुई, दृष्टिकोण में एक तीसरा परिवर्तन हमें दिखाई पड़ता है, और वह इस काल की सभी कहानियों में व्याप्त है।

इस अवस्था की कहानियाँ न आचरण की कहानियाँ कही जा सकती हैं, न आचरण की प्रेरणा (motive) की अथवा आचरण की व्याख्या की। 'आचरण' आचरण के अर्थ में गौण हो गया है, इस आचरण की व्याख्या के रूप में जो मनोवृत्ति का विश्लेषण था वह अपना रूप बदल बैठा है। अब कहानियाँ अन्तर का संश्लिष्ट चित्र उपस्थित करती हैं—बुद्धि के साथ हृदय

के विविध रंगों की भूमिका ने घुलमिल कर इन कहानियों की सजीव विविध प्रतिमाओं का एक संसार बना डाला है। कहानीकार में संवेदना विशेष जागृत हो उठी है, हृदय में एक चसक पैदा होगयी है, और वह सत्य शिव के साथ अन्तर के 'सुन्दर' को भी देखने लगा है— इन कहानियों में वह 'सुन्दर' झिलमिलाना ललित है। अब तक के कहानी के उसके तत्व अधिकांश मानसिक सूत्रों पर ठहरे हुए थे, कहानीकार के विविध विषय संबंधी अपने उपार्जित ज्ञान की गरिमा के धरातल पर उनके कथानक और चित्रण थे। उनमें सहज संवेदना तो थी, चैतन्य मानस के वैज्ञानिक धरातल की विश्लेषण मय चेष्टा के साथ थी, किन्तु कहानीकार जैसे अपने अनुभवों और धारणाओं के वैचित्र्य में हा व्यस्त हो गया था। और अब जब वह 'शतरंज के खिलाडी' लिखने बैठा तो उसकी कल्पना ने उसके अन्तर-पट खोल दिये, अनुभूति का पारस-भोंका आगया और अब आगे से कहानियाँ स्वर्ण-सुषमा से भी जगमग ज मग करने लगी।

देश, काल, परिस्थितियाँ पराभूत नहीं हुई। कहानीकार के विश्वास और उसकी धारणायें भी हैं किंचित परिवर्तन के साथ; पर उन सबकी आव कुछ और होगयी है। अब उनकी बाहरी रूप रेखा (external feature) उनके अन्तर में विसर्जित होती हुई लगती है। घटनायें, देश-काल और परिस्थितियाँ उस अपने विषय अनगढ़ कठोर स्पर्श को त्याग बैठी हैं, उनमें लोच आगयी है। और अब वे पराभूत बिना हुए ही अपना अवस्थिति को बिना लुप्त किये ही एक रासायनिक क्रिया (chemical action) से इतनी लचीली और इतनी पारदर्शी हो उठी हैं कि कोई जगमगाती सुषमा, कोई सुषमामयी

अन्तर मूर्ति कोड़े रंगीन स्पन्दित छवि ही हमारी चक्षुओं में समानी है, यह देश काल परिस्थिति आदि के पारदर्शी मूढम ताने-बाने के सत्तज्ज धरातल अथवा आवरण से और भी ऊष्म होगयी है जैसे महीन पटल से भाँकने वाला कमल मुख हो उठता है।

एक 'अलगयौभा' कहानी लीजिए, इसका ताना-बाना क्या है ? वही सम्मिलित कुटुम्ब का—बड़े घर की बेटी, गृह दाह शंखनाद, विमाता, दो भाई के आधार तत्वों पर बना हुआ— बड़े घर की बेटी में जो सम्मिलित कुटुम्ब के लिए आग्रह है, वह भी बड़े भाई और भावी के द्वारा यहाँ है। गृहदाह में विमाता का जो व्यवहार है वह भी यहाँ है। शंखनाद में जो बहणे हैं उनकी रेखायें भी यहाँ है, विमाता का प्रेम भी है, दो भाई की विलगता और विरक्ति भी। इन्हीं के सूत्रों पर कहानी खड़ी है। विमाता आकर पुत्र से दूर्यवहार करती है। दोनों के मन फट जाते हैं। पिता की मृत्यु हो जाती है। पर रघू विमाता को विमराता नहीं, गृहदाह के सत्यप्रकाश की भाँति उसे विमाता के पुत्रों का ध्यान है। उससे विमाता पन्ना का स्नेह 'विमाता' कहानी की विमाता के जैसा कुछ हो उठता है, तब रघू की स्त्री मुलिया आकर शंखनाद की बहुओं की भाँति घर में कलह उत्पन्न कर अलग हो जाती है। यहीं कुछ वह दृश्य भी उपस्थित हो जाता है जो 'दो भाई' कहानी में है, वह भ्रातृ-प्रेम स्वार्थ में उपेक्षा में परिवर्तित हो उठता है। पर बड़े की मृत्यु पर छोटा भाई उसकी गृहस्थी को संभालता है, यहाँ 'वैर का अन्त' का भाव विद्यमान मिलता है। अलगयौभा तब समाप्त हो जाता है।

इसी प्रश्न से सम्बन्ध रखने वाली इसी अवस्था की और

कहानियाँ लीजिए, 'बेटों वाली विधवा' 'स्वामिनी' 'घर जमाई' 'भाँकी' 'ज्योति' 'गृहनीति' इनमें और इन जैसी कहानियों में देश काल और परिस्थिति बही है—देश वही हिन्दू गृह है, ग्रामीणता से आवृत अथवा पार्श्वस्थ संस्कृति से आक्रान्त; 'काल' के नाते भी पूर्व की कहानियों से कोई भिन्नता नहीं; वही संधि-युगीन पात्र हैं, जिनकी मनोवृत्तियों का आधार प्राचीन संस्कार और विश्वास है, पर वे बौद्धिक होते हुए—परिस्थितियाँ भावही हैं, विधवाएँ हैं, भाई है, विमाताएँ हैं, वधुएँ हैं, वैसी ही संपत्ति है, धन है, किन्तु उन सबकी व्यवस्था में भेद है, उनसे प्रकट सौन्दर्य भिन्न हो गया है, उनमें समस्याएँ भी कुछ विशेष आगयी हैं :

प्रश्न जैसे कुटुम्ब का है। कुटुम्ब का मूल आधार स्त्री और पुरुष है। उनका प्रेम और यौन संबंध तो व्यक्तिगत क्षेत्र की समस्या है; किन्तु वह व्यवहारिक संबंध जो न हृदय के उन्माद से उद्भूत है, न जो वासना-वृत्ति और काम-विकार के अन्तर्गत है जो पारम्परिक लालन, पोषण, पति-भाव और पत्नी-भाव के शिष्टाचार और साहचर्य की 'गृह' कहलाने वाली चाग्दीवारी से परिवेष्टित है, जिसमें चार पुरुषार्थों में से 'काम' को छोड़कर धर्म, अर्थ और मोक्ष का अभिप्राय अंकुरित होता है। वह व्यवहारिक संबंध कौटुम्बिक समस्या का प्रथम बिन्दु है। तो कौटुम्बिक समस्या के इस प्रथम बिन्दु की कहानी प्रेमचंद ने यों कही है :

एक स्त्री और एक पुरुष, उनका विवाह हुआ। विवाह होता एक प्रकार से इस कुटुम्ब के उत्तरदायित्व के लिए अनिवार्य है। मिस पद्मा की भाँति जो विवाह को अप्राकृतिक संबंध समझता

है, जो विवाह से होने वाली परानधीनता को घृणा करता है, विवाह को जीवन का व्यवसाय बनाने से असमत है, उसे भी यह समझते देर नहीं लगती कि 'उमका मन केवल भोग नहीं चाहता है। वह चीज क्या थ ? पूरा आत्म-समर्पण।' तब वह कुछ और भी चाहता है स्त्री है नो पुरुष का, पुरुष है तो स्त्री का हृदयता है और कहता है, "जब तक हम दोनों यह प्रतिज्ञा न कर लें कि आज से मैं तुम्हारा और तुम मेरी हो. तब तक एक साथ निर्वाह नहीं हो सकता।" और वे अपना स्वतन्त्रता की आत के लिये यह अपवाद मान कर कहते है "मगर उस एक बात के सिवा और सभी बातों में स्वतन्त्र रहूंगा (गी) और आगे बात बढ़ने पर उन विकल युग्म में से समर्थ के समस्त कम समर्थ अथवा विशेष आकुल कइ उठता है "तुम घर के ग्वाभी नहीं, मेरा स्वामी बन कर रहो।" वे इस प्रकार रहते हैं पर स्वतन्त्र प्रेम के अर्थ हैं कि उसके क्षेत्र में न सामाजिक आतंक (Social Sanction) का, न राजकीय कानून का कोई प्रवेश है, और न वह उसे अपने क्षेत्र में स्थान देगा। फल क्या होगा ? जो गृह बनेगा बिना नींव का होगा। स्वतन्त्र भोग का कायल मनुष्य प्रकृततः स्वच्छन्द होने के कारण स्त्री को ६-१० महीने के बन्धन में डाल कर और उमका सब कुछ हड़प कर फिर किसी पुष्प का रस लेने चल देगा—कानून या समाज उमका क्या करेगा ? और तब इस स्वतन्त्र प्रेम के व्यवसाय का घाटा स्त्री के सिर ही पड़ेगा। और जो विवाह की प्रथा को अनुचित समझते हैं और आलोचना में कहते है कि विवाह-प्रथा का

“सबसे बड़ा ऐब यह है कि यह सामाजिक प्रश्न को धार्मिक रूप दे देता है। दूसरा यह कि व्यक्तियों की स्वाधीनता का बाधक है। यह स्त्री व्रत और पातिव्रत्य का स्वांग रचकर हमारी आत्मा को संकुचित कर देता है। हमारी बुद्धि के विकास में जितने रुकावट इस प्रथा ने डाली है उतनी और किसी भौतिक या दैविक क्रान्ति से भी नहीं हुई। इसने मिथ्या आदर्शों को हमारे सामने रख दिया।” व्रत केवल एक निरर्थक बंधन का नाम है। इतना महत्वपूर्ण नाम देकर हमने उस कैद को धार्मिक रूप दे दिया है। समाज की यह सारी व्यवस्था, सारा संगठन संपत्ति-रक्षा के आधार पर हुआ है। हमारे ही बीर्य से उत्पन्न संतान हमारी कमाई हुई आयदाद का भोग करे, इस मनोभाव में कितनी स्वार्थन्धता, कितना दासत्व छिपा हुआ है। इसी क्रूर स्वार्थ के लिये संसार में वृत्त की नदियाँ बह रही हैं। मैं इस वैवाहिक प्रथा को सारी बुराइयों का मूल समझता हूँ। ऐसा कहने वाले बुद्धि से हट कर हृदय से नहीं। वे विवाह करते हैं और विश्वास चाहते हैं, तो विवाह इस कुटुम्ब के लिये आवश्यक है। दोनों आये बड़ी-मंगे और बड़ी बातें, प्रबल उत्कण्ठा, प्रबल उन्माद। स्त्री है कि जब पति बाहर जाता है तो द्वार पर खड़ी हो जाती है, और जब वह पीछे फिर कर मुस्करा देते हैं तो समझती है मानों स्वर्ग का राज्य मिल गया। तीसरे पहर से ही कोठे पर चढ़ कर आ। की वाट जोहती है और उनको दूर से आते देख कर उन्मत्त-स हो कर नीचे आती है और द्वार पर ही उनका अभिवादन करती है। फूलों का गुलदस्ता भेंट दिया जाता है, वह स्त्री की निधि बन जाता है। पत्र लिखे जाते हैं, उन्हें छाती से और आँखों से लगाया जाता है। यह आरम्भिक

प्रेमोन्माद। तब उनके जीवन में 'घर' अपना स्थान कर लेता है।
 उन्माद और प्रेमाभिलाषा घर की व्यस्तता में विस्मृत हो उठती
 है, इसलिये भी कि अब जो दोनों एक दूसरे को अपेक्षित थे वे तो
 हैं ही, फिर अभिलाषा के लिए शेष भी क्या रह गया है ? प्रेम की
 अभिलाषा से स्पन्दित हृदय महादेवी के इस गीत से :—

‘अनोखे से नही के त्याग
 निराले पीड़ा के संसार ।
 कहाँ होते हो अंतर्धान,
 लुटा करके सोने-सा प्यार—

[अभिलाषा]

पुनरोन्माद का आनन्द

और कंपन अनुभव कर लेते हैं—पर

चित्र का यह रुख एक मदन-स्वप्न है, कोमल वर्ग की मोहनी
 शक्ति में आकर्षण है, पर एक पुरुष चित्र का दूसरा पक्ष भी
 तो देखता है— यह दूसरा रुख एक भयंकर सत्य है, जिसके
 सामने इस पुरुष की रसिकता अन्तर्धान हो जाती है। दाम्पत्य
 जीवन का एक पक्ष जितना ही मोहक और आकर्षक है,
 दूसरा उतना ही हृदय विदारक—महाशय जी बदनसीध बच्चे
 को गोद में लिये तेल या ईंधन वाले की दुकान पर खड़े हैं,
 आटे की पोटली दवाये चोर की भांति गलियों में होकर घर भागे
 जा रहे हैं, बालक को लिए होमियोपैथ डाक्टर की दुकान में
 टूटी कुर्मी पर आरुढ़ है—ऐसे गृहस्थ जीवन से बचने की चेष्टा
 करने है, अनेकों बहाने बनाकर आप अपनी श्रीमती जी
 को अपने पास नहीं बुलाते, पर पत्नी जी ठहरी. चतुर नाइ

जाती हैं और आ ही धमकती हैं, तब विवशता है। घर बाँधना ही पड़ता है।*

घर बाँध तो लिया, पर घर बाँधने का कौशल भी तो चाहिये। पुरुष महोदय यदि खूब है तो उन्हें स्त्री की प्रत्येक बात ना पसन्द है, प्रत्येक बात पर नाक-भौं सिकोड़ते हैं। पत्नी ने कुंजड़िन से घाते के लिये भगड़ा किया, धेने की वचन के लिए सिर खपाया, तो महाशय जी कहते हैं “इतनी देर में तो हजार पांच सौ का सौदा हो जाता, समय का भी तो मूल्य है, कम से कम २० पन्ने पढ़ जा सकते थे।” बिल्ली दूध पी गई, स्त्री ने उसे रुल से दो चार लुढ़कियाँ खिला दीं तो कहा जा रहा है— “पशु के साथ आप भी क्यों पशु हों जायें। उसे मारने से क्या दूध मिल गया।” भिक्षुक को भीख न दो तो उपदेश, बात बात में स्त्री को उपदेश दिया जाता है और उसे अपदार्थ समझा जाता है। स्त्री उदार बनती है, आप उसकी उदारता पर बरस पड़ते हैं; उमने आपके अनुकूल दूसरे दिन अनुदारता दिखाई तो भी उस पर बरस पड़े—अपमान तक करने में नहीं चूके। तब बड़का करती है? निश्चय करती है कि, ‘अपने मन से कोई काम ही न करूँ, जो यह कहें, वही करूँ, न जौ-भर कम, न जौ-भर ज्यादा।’ स्त्री का यह रूप पुरुष को परेशान ही करेगा—“यह नहीं हुआ?” “हुकम कब मिला था।” वह नहीं हुआ? ऐसा हुकम कब मिला था! आखिर कितने हुकम दे जा सकता है पुरुष! वह अपनी भूल सुधारेंगा ही। +

इस कुटुम्ब में ऐसी स्त्रियाँ हैं जो अपने पति की उन्नतिके

*आखिरी हीला

+ लुचड़

लिए सब कुछ त्याग करने को सन्नद्ध हैं, सब कुछ त्याग देती हैं, और ऐसे पुरुष हैं जो स्त्री के उस सम्पूर्ण त्याग को भोग कर कृतज्ञ हो बैठते हैं। ऐसी स्त्रियाँ हैं जो पति के घर को मँभालती हैं, थोड़े में ही जहाँ समृद्धि का आभास करा देती हैं, पति के लिये संयम बन कर उसके सम्मान के साथ उसके सुख को बढ़ाती रहती हैं। ऐसी स्त्रियाँ भी हैं जो पति के प्रेम से पोषित वृद्धावस्था में पति के परिश्रम पर सुख भोग करती हैं, ऐसे पुरुष हैं जो सहर्ष स्त्री के लिये घोर परिश्रम करते रहते हैं, थकते नहीं, दुनियाँ की बातों पर बिना ध्यान दिए अपनी धुन में अपनी स्त्री को सुख पहुँचाने में जो किंचित भी संकोच नहीं करते। आभूषण चाहने वाली स्त्रियाँ हैं, पर वे पति को पतित नहीं देख सकती। पुरुष भी आन वाले हैं।

जैसा कहा जा चुका है इस भारतीय गृह का पहला नियम विवाह है, गृह का संचालन प्रकाश से उज्ज्वल रहे, वह जीवन का भार बनकर उदास मलिनता से निस्तेज न बने। रूप-रंग का इस विधान में स्थान नहीं। सेवा और समर्पण, विश्वास और निष्ठा से स्वाभाविक आकर्षण उत्पन्न होता है। इन्हीं गुणों के सहारे उत्पन्न प्रेम कौटुम्बिक प्रेम है। इसके उत्पन्न हो जाने पर घर का संचालन ठीक हो उठता है। इसके न होने से ही दुर्घटनाएँ घटती हैं। घर की कलह का यही कारण है। घर के लिए 'प्रेम' तो आवश्यक है। 'प्रेम की पिपासा' नहीं। इस प्रेम के साथ पारस्परिक विश्वास भी होना चाहिए, अन्यथा गृह का विधान शिथिल हो जायगा, और भयंकर दुर्घटनाएँ हो पड़ेंगी। दोनों सदस्यों को यथासंभव समान रूप, अवस्था और वर्ण का होना

चाहिए। वृद्ध पति है तो स्त्री चंचल हो उठेगी। वृद्ध की मनोवृत्ति उसके शृंगार को सह नहीं पायेगी। प्रतिक्रिया में स्त्री पथ-भ्रष्ट हो जायेगी। पति कुम्हप है तो सुन्दर स्त्री के प्रति वह अपना मानसिक सामञ्जस्य न बना सकेगा, उसे मानसिक आशंकाएं घेरे रहेंगी, जिससे स्त्री अपमानित होगी और कालान्तर में या तो वह चतुर विधर्मियों के हाथों में चली जायमी, या फिर पुरुष चिन्ता में घुलकर प्राण देदेगा।

इसी के साथ है वह मानसिक निश्चय और सामञ्जस्य जो विषमताओं के तूफानी भोंको को मेल कर भी दृढ़ बना रहे। जहाँ यह आत्म-दृढ़ता नहीं वहाँ साधारण परिस्थितियों में काम भल ही चला जाय, पर यदि व्यक्ति कुछ साहस से काम लेना चाहता है, समाज के प्रचलित विधान-बंधनों के विरोध में वह अपना पैर अड़ाना चाहता है, वह विधवा से विवाह करने को प्रस्तुत है, या वेश्या अथवा उसकी पुत्री से, अथवा जति पाँति की अवहेलना करके रहना चाहता है तो बिना उस आत्म-दृढ़ता के कार्य न चलेगा। वह या तो गृह बना ही न सकेगा, यदि बना भी लेगा तो परिस्थितियों के व्यंग से कुढ़कर वह शीघ्र ही उसे नष्ट कर देगा। ऐसे साहस के कार्य केवल आकर्षण और आवेश के आधार पर न होने चाहिए, उसके संपूर्ण भावी परिणामों के लिए तय्यार होकर ही करने चाहिए। ऐसा न होगा तो सारी कहानी दुखान्त हो जायगी ❀

गृह की कहानी दुखद न हो। इसके लिए स्त्री को रूप का अभिमान छोड़ना होगा, उसे अपने ही में मग्न न रहना होगा,

रूप का अभिनय भरने से भी स्थिति बिगड़ सकती है। ×
गृह के जीवन में भोग-विलास की नहीं सहृदयता और आत्मी-
यता की अपेक्षा है। घर की नींव प्रेम के विलास पर नहीं सेवा
पर और पारस्परिक सम्मान पर रखी हुई है।

इस समस्या ने प्रेमचन्द को इस अवस्था में बहुत आकर्षित
किया है कि गृह बने किम आधार पर। विवाह की मान्यता
उन्होंने स्वीकार कर ही ली है, पर विवाह से ही समस्या हल नहीं
हो जाती। रामेन्द्र और सुलोचना की समस्या विवाह के उपरान्त
ही आरंभ हुई। और समस्या बड़ी थी जो भगत राम के समस्त
विवाह होते होते खड़ी होगयी थी, विवाह से पूर्व ही जिमने
प्राणान्त कर दिया था उसका!— तो 'विवाह' दम्पति को
बाहरी विकारों से अभय दे सकता है; आन्तरिक निजी और गृह
की सामाजिक यंत्रणाओं से वह कहाँ बचा सकता है। गृह
बनाने के लिए आप किस आधार पर और कैसा साथी चुनना
चाहते हैं, यह एक आवश्यक प्रश्न है।

साधारण हिन्दू-विवाह प्रणाली के द्वारा माता-पिताओं के
परामर्श और उद्योग से वर्ण किया गया पति और वैसे ही प्राप्त
पत्नी अपना दाम्पत्य जीवन सफल बना ही लेते हैं। चंदा से
जब उसके पिताजी ने पुछवाया कि इच्छा हो तो घर को बुला
दूँ, वह देखले। पर चंदा ने अस्वीकार कर दिया, उसने अपनी
सखी को लिखा, "मैंने कह दिया, कोई जरूरत नहीं। कौन घर
में बहू बने। है तकदीर ही का सौदा। न पिता जी ही किसी के
मन में बैठ सकते हैं, न मैं ही। अगर दो एक बार देख ही लेती,

×दो सखियाँ

†आगा पाँखा

नहीं मुलाकात ही कर लेती तो क्या हम दोनों एक दूसरे को परख लेते। यह किसी तरह संभव नहीं। ज्यादा से ज्यादा हम एक दूसरे का रंग-रूप देख सकते हैं। इस विषय में मुझे विश्वास है, कि पिता जी मुझ से कम संयत नहीं है। मेरे दोनों बड़े बहनोई, सौंदर्य के पुतले न हों, पर कोई रमणी उनसे घृणा नहीं कर सकती। मेरी बहनें उनके साथ आनन्द से जीवन बिता रही हैं। फिर पिता जी मेरे ही साथ क्यों अन्याय करेंगे।” इस प्रकार के विवाह का परिणाम बहुधा सुखद ही होता है। ❀ क्यों सुखद होता है इसका कारण ‘गिला’ कहानी में स्पष्ट किया गया है। गिला की स्त्री को बहुत शिकायतें हैं, और उस का यह कथन है “जीवन का बड़ा भाग इसी घर में गुज़र गया; पर कभी आराम न नसीब हुआ।” इस स्त्री को अपने पति से एक नहीं सैकड़ों शिकायतें हैं और प्रत्येक बात पर दोनों में विरोध है। दोनों में कशमकश है—उन अपनी सारी दुःखद गाथाओं को सुनाने के बाद उसने यह स्वीकार किया है; “किन्तु सबसे बड़ी बिडम्बना यह है कि इन सारे दुर्गुणों के होते हुए भी मैं इनसे एक दिन भी पृथक् नहीं रह सकती—एक क्षण का वियोग नहीं सह सकती। इन सारे दोषों पर भी मुझे इनसे प्रगाढ़ प्रेम है। इनमें यह कौनसा गुण है, जिस पर मैं मुग्ध हूँ, मैं खुद नहीं जानती। पर इनमें कोई बात ऐसी है, जो मुझे इनकी चेरी बनाए हुए है। वह जरा मामूल से देर में घर आते हैं, तो प्राण नहीं में समा जाते हैं। आज यदि बिधाता इनके बदले मुझे कोई बिद्या और बुद्धि का पुतला, रूप और धन का देवता भी दे तो उसकी ओर आँखें उठाकर न देखूँ। यह धर्म की बेड़ी

नहीं है, कदापि नहीं; प्रमाणित पातिव्रत भी नहीं; बल्कि हम दोनों की प्रकृति में कुछ ऐसी क्षमताएं, कुछ व्यवस्थाएं उत्पन्न हो गई हैं मानों किसी मशीन के कल-पुरजे घिस-घिसाकर फिट हो गये हों, और एक पुरजे की जगह दूसरा पुरजा काम न कर सके। चाहे वह पहले से कितना ही सुडौल और नया और सुदृढ़ क्यों न हों।

पर, नहीं जब व्यक्ति में कुछ क्रान्तिकारी प्रवृत्ति है, अथवा सुधारक मनोवृत्ति है तो वह किसी दुखी और प्रताड़ित विधवा से विवाह करने के लिए सन्नद्ध हो सकता है। विधवा के लिए श्रेष्ठ तो यही है कि वह अपने पति के लिए बैठी रहे। पर घर के अत्याचारों से उसका विधवात्व पीड़ित हो उठा है, वह अभिशाप होकर उसे धिक्कारने लगता है तो विवाह कर लेना बुरा नहीं, पर उसके लिए चोरी छिपे प्रबंध होना उचित नहीं, उसके लिए सामाजिक वातावरण भी अनुकूल हो तो अच्छा है, दोनों का विशेषतः विधवा हुई स्त्री का मन दृढ़ होना आवश्यक है, अन्यथा अपने कुटुम्बियों के 'धिक्कार' से ममाहत मानी की भाँति वह यह सोचकर अपने प्राण देदेगी कि "नहीं, नहीं, मैं अपने पति के जीवन को कलंकित नहीं कर सकती। वे देवतुल्य हैं, उन्होंने मुझ पर दया की है, मैं अपने पूर्व-संस्कारों का प्रायश्चित्त कर रही थी। तुमने मुझे उठाकर हृदय से लगा लिया; लेकिन मैं तुम्हें कलंकित न करूंगी।" (धिक्कार)

वह व्यक्ति प्रेम और नव शिक्षा के संस्कारों से कुछ आवेशित होकर वेश्याओं की सुशिक्षित लड़कियों से भी संबंध करने को उद्यत होसकता है। यह संबंध जहां तक पति-पत्नी का संबंध है वहां तक भी अधिक सफल हो सकता है इसमें संदेह है ? उन

के प्रेम की दृढ़ता में कमी नहीं दीख पड़ती, पर प्रेम की प्रबलता भी, कुछ ऐसी बातें हैं, जिनको शान्त नहीं कर सकती, जिनको शमन नहीं कर सकता। उन वेश्या-पुत्रियों के नाम के साथ जो पिछले वेश्यात्व का संस्कार है, उसके संव्य में पहले तो पुरुष के हृदय में ही एक धारणा छिपी बैठी रहती है जो सागर की चट्टान की भाँति प्रेम के जहाज में भीतर से छेद कर उसे किनारे पर ही डुबा देती है। भगत राम के × प्राणान्त का यही कारण है। यदि यह जहाज चल भी पड़ा तो पुरुष की संदेह-वृत्ति के उदय हो जाने पर वह फिर कभी डिग-भिगा उठेगा और निश्चय ही उसका अन्त सुखकर न होगा— वह रामेन्द्र की भाँति विचारने लगेगा—

“क्यों न हो, खून तो वही है, मनोवृत्ति वही, विचार वही, आदर्श वही। माना, कुँवर साहब के घर में पालन-पोषण हुआ; मगर रक्त का प्रभाव इतनी जल्द नहीं मिट सकता।”

प्रेम में इस सन्देह को शमन करने की सामर्थ्य नहीं। नहीं, वरन यह सन्देह उत्पन्न होकर प्रेम को चकनाचूर कर डालता है और ‘घर’ उजड़ जाता है। सन्देह से घर के उजड़ने का दृश्य हमें ‘लांछन’ और ‘सती’ में मिलता है। ‘स्त्री’ की सुन्दरता मात्र, तथा कुछ वाक-विलास में रुचि सन्देह की जड़ें जमाकर भीषण परिणाम उपस्थित कर देते हैं।

तो निश्चय ही ऐसी विषम गृहस्थी में स्त्री और पुरुष दोनों को ही अपनी मनोवस्था को विशेष सावधान रखने की आवश्यकता है। शेक्सपियर के ओथेलो में भी विषम गृहस्थी के असावधान वातावरण से उद्भूत दुखान्त कहानी का चित्र है। ओथेलो अपने हृदय के भावों को छिपाये रहता है, इसी कारण दुष्परिणाम भोगता है। प्रेमचन्द के पात्र उन कहानियों

में भारतीय स्वाभाविक संकोच के कारण स्थिति स्पष्ट नहीं कर पाते। घर में विपत्तमात्रों के प्रति मिल कर एक नीति निश्चित कर लेनी होगी, अन्यथा दुष्परिणाम अनिवार्य है। मानसिक साम्य न होगा तो गृह की समस्या न सुलझेगी।

इन घरों में दाम्पत्य जीवन का रूप कटु इसलिए भी हो जाता है कि इन घरों में सास और ननद का एक अत्यन्त अस्वाभाविक व्यवहार नवीन दम्पति के प्रति हो उठता है। इस व्यवहार को उचित दिशा में प्रभावित करने का उत्तरदायित्व नवजात वधू पर ही विशेष है—वही एक नया तत्व उस घर में आया है—एक मार्ग है विच्छेद; पुत्र अपनी स्त्री को लेकर अलग रहने लगे। यह सम्भावना प्रेमचन्द को स्वीकार नहीं—उनके कुटुम्ब अलग हुए हैं, सम्पत्ति के आधार पर भी, गृह-कलह के आधार पर भी, पर इसे—विच्छेद के मार्ग को उन्होंने पत्तायनवादी का मार्ग समझा है। वे विच्छेद का मार्ग न बता कर, घर की परिस्थितियों को वीरतापूर्वक सहन कर, उसमें संवा और त्याग से नवीन दृष्टि उपस्थित कर देने का परामर्श देते हैं। (दा सखियाँ) आनन्द के साथ चन्दा भी घर से चल दे सकती थी, दोनों अलग रहकर सास-ननद के आक्रोश से दूर हो जाते और अपनी यावन्तीय उमङ्गों में मनमाना तिरते। पर चंदाने वह मार्ग नहीं अपनाया—वह यह समझती थी कि जिस माता ने जन्म दिया, उसके प्रति इतना रोष उचित नहीं। उससे दूर भागना जैसे कुछ ठीक नहीं लगता। तब उसका 'अनशन'—पति के पीछे एक दाना भी मुँह में न डालना—उसकी गृह-वीरता का द्योतक है और यह उसका त्याग माता और बहिनों को यथास्थान खींच लाता है। घर में उसे नये तत्व के कारण जो एक उद्वेलन हो

उठा था वह शान्त हो जाता है।

जिस घर में पुत्र हैं उसमें विमाता के कारण भी एक विशेष व्यग्रता उत्पन्न हो जाती है। सभी विमाताएँ एक सी नहीं होतीं। सौत के बालक को अपने जैसा समझने वाली, उससे भी अधिक प्यार करने वाली विमाताएँ कहानी में हैं, पर साधारणतः ऐसी विमाताएँ कहानियों में अपवाद स्वरूप हैं, नियम में उन्होंने 'गृहदाह' करने वाली प्रवृत्ति ही पायी है। यहाँ पर पुत्र की सेवा और त्याग, उसका सहज प्रेम, गृह की नाशोन्मुख अपसरता को रोक सकता है। किन्तु यह समस्या तब अति जटिल हो जाती है जब विमाता का पति, सौत के बालक का पिता जीवित है। गृह में निर्भरता और सम्पत्ति के साथ प्रेम का अधिकार भा है। विमाता जब तक पति पर निर्भर है, वह पुत्र की उपेक्षा कर जायगी और उस अवस्था में 'सत्यप्रकाश' जैसे व्यक्ति का प्रेम, उसकी सेवा और त्याग सब कितनी ही उत्कृष्टता और चरम कोटि पर क्यों न पहुँच चुके हों व्यर्थ चले जायँगे। इस अवस्था में गृह को संभाला जा सकता है या नहीं, इसका हल प्रेमचन्द ने सीधे नहीं दिया। इस कटुता को बढ़ाने में, घर में विमाता का प्रबल अधिकार जमाने में पिता की उपेक्षा और रसिकता का भी बड़ा हाथ रहता है। संकेत हो जैसे कि हल है पिता के हाथ में, वह भी आरम्भिक अवस्था में ही आगे नहीं। बात बढ़ जाने पर विकार का उपचार असम्भव हो जाता है। ❀

योग्य पुत्रों के होने पर स्थिति संभली रहती है, चाहें विधवा माता विमाता ही क्यों न हो। विधवाओं के बिना प्रेमचन्दजी के सम्मुख रह रह कर आये हैं, पर उनकी सभी विधवायें दुखी और विपन्न नहीं, दीन और असहाय नहीं। अधिकाँश विधवाएँ

पुरुषार्थ सम्पन्न हैं, और वे गृहस्थी के लिए बोक नहीं शक्ति सिद्ध होती हैं। वे सब कुछ त्याग कर घरका सञ्चालन दक्षता पूर्वक करती हैं। + उन्हें जब तक कुछ करने के लिए काम रहता है तब तक वे अपनी पवित्रता और व्रत को भी अनुरण रखती हैं। विधवाओं के प्रति वास्तविक सहायुभूति उनका वास्तविक आदर यदि घर में बना हुआ है तो वे अपने जीवन को मंथन में बिता सकेंगी और जिन घरों में विधवा का विवाह वर्जित नहीं, वहाँ भी वे उस अवस्था में विवाह करना योग्य नहीं समझेंगी x। प्रेमचन्द की पुरुषार्थिनी बालविधवाओं में सबसे तेजस्विनी 'सुभागी' है। इसने न तो पुनर्विवाह करना स्वीकार किया, न परिस्थितियों के दबाव में कोई कायरता दिखायी, जो पुरुष कर सकते थे, वह सब उसने कर दिखाया। यह अवस्था उन घरों की है जिनमें धन-लोलुपता नहीं। प्रेमचन्द जी यह मानने को विवश हुए हैं कि यह सब सुख विधवाओं के निजी उद्योग और पुरुषार्थ का फल है, उन्हें वह सम्मान और अधिकार हिन्दूधर्म और घर के नाते नहीं मिला, वह उन्होंने उपार्जित किया है, उनके निजी गुणों के कारण वह सब है। अन्यथा हिन्दुओं के अनुसार विधवाओं की वह दशा हो सकती है जो 'बेटों वाली विधवा' की हुई, जिसका अर्थ-लोलुप पुत्र यह कानून बताते नहीं हिचकता :—

“कानून यही है कि बाप के मरने के बाद जायदाद बेटों की हो जाती है। माँ का हक केवल रोटी कपड़े का है।”

यह कानून बनाया किसने ? हिंदुओं के ऋषियों ने। तब इस अवस्था में 'माता का वात्सल्य-मग्न मातृत्व अभिशाप बन

+ स्वामिनी

x आधार

कर उपे धिक्कारने' लगता है। जिस 'मातृत्व को उसने जीवन की विभूति समझा था, जिसके चरणों पर वह सदैव अपनी समस्त अभिलाषाओं को अर्पित करके अपने को धन्य मानती थी, वह मातृत्व उसे अभिनकुण्ड सा लगने लगता है, जिसमें उसका जीवन जलकर भस्म हो रहा है।' हिंदूधर्म के अनुसार तो विधवा की वह दशा हो सकती है जो 'सुशीला' की हुई जिसे समाज के सरपञ्चों की सहानुभूति इसलिए मिली कि उसका सवस्व स्वाहा कर दें 'मृतक-भोज' में। 'मृतक का पीछा भी किसी तरह सुधारना ही पड़ता है। नहीं तो पञ्चों की हँसी होगी। संसार में मर्यादा से प्रिय कोई वस्तु नहीं। मर्यादा के लिए प्राण तक दे देते हैं।' और इस मर्यादा के लिए सुशीला को दीन गृह-वित्त-हीन होकर प्राण त्यागने पड़ते हैं, और उसकी सयानी लड़की को जो उम्र में नावालिंग है इस भय से कि वह सरपञ्च अपने अधिकार में करके एक खूमट वृद्ध से न विवाह दें, गङ्गा में अपने प्राण विमर्जन करने पड़ते हैं। क्योंकि वह जान पाती है कि कानून भी उसकी रक्षा नहीं कर सकेगा, वह धन के हाथों बिका हुआ है। घर में विधवा पुत्र-वधू को छोड़, विधवा माँ और विधवा पुत्री पर होने वाले अत्याचार को उन्होंने खोल कर रख दिया है, साथ ही ऐसे चित्र भी हैं जिनमें विधवाओं ने अपने गुणों से ये बिकट स्थितियाँ पैदा नहीं होने दीं। विमाना और विधवाएँ तो इन कहानियों में आयी हैं। पर 'सौत' का प्रश्न कहानीकार ने पहली अवस्था के पश्चात् फिर नहीं उठाया।

इसी तीसरी अवस्था की कहानियों में एक नवीन प्रयोग 'बालकों' के चित्र देन का किया गया है। अशोध गोद के बालकों से लेकर किशोरावस्था तक के बालकों के विविध दृश्य और मनोवृत्तियाँ इन कहानियों में मिलती हैं।

बालक घर के उत्तरदायित्वों से रहित एक काव्य है। गृह-कार्यों के मरुक्षेत्र में वह सुषमामय उद्यान तो है ही इससे भी अधिक वह रसमय उद्रेक और प्रेरणा है। किन्तु ऐसा वह घर की दृष्टि से है—दृष्ट-कर्मक रूप में। प्रेमचन्द ने बालक के इस रूप का प्रत्यक्ष चित्र कम ही उपस्थित किया है, 'माँ' में यह बच्चा माँ के अकेले अंधेरे जीवन में सूर्य की भाँति प्रकाश फैलाने वाला, और सहारा था। पति की मृत्यु के उपरान्त भी यही बालक उसका प्रकाश था, जिस पर वह जान देती थी। उसका आनन्द उसकी अभिलाषा, उसका संसार, उसका स्वयं सब प्रकाश पर न्यौछावर था। पर यह सब बालक का रूप नहीं, माँ का हृदय है जो प्रकट हो रहा है। बालक से सम्बन्धित माँ के इस हृदय की प्रेमचन्दजी ने पूरी परीक्षा की है—और उन्हें उसके उस वात्सल्य को पूर्ण अभिव्यक्त करने के लिए शब्द नहीं मिल पाये। माता का हृदय दया का आगार है। उसे जलायें तो उसमें से दया की ही सुगन्ध निकलती है, पीसो तो दया का ही रस निकलता है। वह देवी है। विपत्ति की क्रूर लीलाएँ भी उस स्वच्छ और निर्मल स्रोत को मलिन नहीं कर सकतीं ! (माता का हृदय)। प्रेमचन्द मानते हैं कि 'मातृप्रेम' संसार में और जो कुछ है, मिथ्या है 'निस्स्वार्' मातृप्रेम ही सत्य है, अक्षय है, अनश्वर है (मन्दिर) माँ बालक के लिए सब कुछ सह सकती है, कष्टों की पराकाष्ठा भी, अपनी मृत्यु भी। बालक की दृष्टि से भी माँ का महत्व कुटुम्ब के दूसरे व्यक्तियों से कहीं अधिक है, पिता तक बालक के लिए एक अनावश्यक वस्तु है। 'बच्चों के लिए बाप एक फालतू-सी चीज—एक विलास की वस्तु है, जैसे घोड़े के लिए चने या बाबुओं के लिए मोहनभोग। माँ रोटी-दाल है। मोहनभोग उम्र भर न मिले तो किसका नुकसान है; मगर एक

मिन रोटी दाल का दर्शन न हो तो फिर देखिये क्या हाल होता है। पिता के दर्शन कभी-कभी शाम सवेरे हो जाते हैं, वह बच्चे को उछालता है, दुलारता है, कभी गोद में लेकर या उँगली पकड़ा कर सैर कराने ले जाता है और बस, यही उसके कर्तव्य की इति है। वह परदेस चला जाय, बच्चे को परवाह नहीं होती लेकिन माँ तो बच्चे का सर्वस्व है। बालक एक मिनिट के लिए भी उसका वियोग नहीं सह सकता। पिता कोई हो उसे परवा नहीं केवल एक उछालने कुदाने वाला आदमी होना चाहिए; लेकिन माता तो अपनी ही होनी चाहिए, सोलहों आने अपनी, वही रूप, वही रँग, वही प्यार, वही सब कुछ। वह अगर नहीं है तो बालक के जीवन का स्रोत मानों सूख जाता है। (घर जमाई)। इस प्रकार माँ के सहज वात्सल्य और बालक के स्वार्थ में घर के तन्तु मधुर और दृढ़ बनते हुए चलते हैं। यह प्रचलित विश्वास निराधार नहीं कि पूतकपूत हो सकता है, पर माता कभी कुमाता नहीं होती। प्रेमचन्दजी ने माता को कुमाता तो होने ही नहीं दिया, उन्होंने इस माता को मानव के क्षेत्र में देवी के रूप में उपस्थित किया है। माँ जैसे सेवा और त्याग दूसरे से हो नहीं सकते। उन्होंने इस माँ के अन्तर और बाह्य दोनों की अभिराम सुषमा का दर्शन कराया है। अछूत माँ अपनी सन्तान की मङ्गल कामना में मन्दिर में प्रवेश करने के लिए अपने प्राणों की बाजी लगा देती है; प्रकाश की माँ तिल-तिल कर अपने खून की आग में जलती है, पर अपने पुत्र की कामनाओं को कुचलना नहीं चाहती; वह उसके लिए अपना आदर्श, अपना मान और अपना गौरव सब कुछ त्यागने को मजबूर दीखती है और अन्त में अपनी आशाओं के पूर्णदहन पर घोर विफलता अनुभव कर अपना सम्पूर्ण विमर्जन कर देती है; एक माँ अपने बच्चे के जेल में ठं प दये

जाने पर प्रतिहिंसा से तड़पते हृदय को शान्त करने के लिए जेल में ठूंसने वाले न्यायाधीश के बालक का अन्त करने का निश्चय करती है, पर उसका माता का हृदय है, वह किसी भी बालक का अहित कैसे कर सकती है। मातृत्व की दृष्टि से धाय भी कम श्रद्धा-पात्र नहीं। वह दूसरे के बालक की माँ का स्थान लेकर उसे वास्तविक स्नेह और त्याग से ही पूरा करती है। अपने बालक का प्रेम उसे दूसरे बालक को प्रेम करने का पाठ सिखाता है, निस्संदेह वह उसके लिये अपने बालक का भाग अवश्य कम कर देती है (दूध का दाम)। सुमाताएँ ही यहाँ हैं। माता का यह रूप यहीं, विक्रामोत्कर्ष की अवस्था में, कहानीकार ने इतनी स्पष्ट रेखाओं में उपस्थित किया है, यहीं वह माँ के महिमामय रूप का अत्यन्तीकरण कर सका है। इस माँ के बालक पहले पहल दूसरी अवस्था में आपस में भाई भाई के नाते अर्थ-लालसा से लड़ते दिखाई पड़ते हैं। यही बात माँ के हृदय को दुख पहुँचाने के लिए पर्याप्त है, पर इस तीसरी स्थिति में आकर ये बालक—ये पुत्र उम्मी म्बार्थ और धन के लिए तथा बहिन या भाई की स्पर्धा में माँ से तथा बाप से भी (सुभागी) दुर्व्यवहार करने में नहीं हिचकते। इस अवस्था की कहानियों में अब भाई से भाई की लड़ाई के चित्र उतने भयानक नहीं रहे। जैसे लेखक उस बात को अब दुहराना नहीं चाहता।

पर बालक के इस दृष्ट-कर्मक रूप में तो यही गृह और वात्सल्य के प्रश्न आते हैं, लेखक ने उसके दृष्ट कर्तृक (Subjective) रूप को विशेष उपस्थित किया है। कई कहानियाँ इसी रूप को उपस्थित करने के लिए लिखी गयी हैं।

यह बालक उत्पन्न होता है—निष्कलंक और उज्ज्वल। माता पिता ने कितने ही धार्मिक और सामाजिक व्रतों का उल्लंघन

किया हो, नैतिक अनाचार ही उनसे क्यों न हुआ हो, पर उनसे उत्पन्न बालक निश्चय ही निष्कलंक है। अथवा बालिका पर समाज अथवा परिस्थितियों के अधीन गृह और अनैतिक वातावरण में पलने से कोई अयोग्य प्रभाव भले ही पड़ जाय, अन्यथा 'दो कत्रे और आगापीछा' की वेश्या-पुत्रियों की भाँति घोर अनाचार और पाप से उत्पन्न संतानें भी गुण और शील में, भाव और भक्ति में किसी पवित्र गृहस्थ से कम नहीं ठहरतीं। 'खून' के स्वभाव का प्रश्न अधिकांश उन व्यक्तियों को अपनी मनोगत धारणाओं का परिणाम है जो अपनी कुलोन्नता के अभिमान को पूर्णतः चूर्ण नहीं कर पाये, जो अपनी पवित्रता की संस्कारगत धारणा को मिटा नहीं सके। दोनों कहानियों में वेश्या-कन्याओं में नाममात्र को दोष नहीं मिलता। आगापीछा में, श्रद्धा में जिसे खून के असर के प्रभाव का परिणाम माना है, और जिसके लिए उसे अनुताप होना पड़ा है, यह कहते हुए कि 'उसका प्याग उसकी नङ्गों के सामने दम तोड़ रहा था। उसके लिए उसकी सान्त्वना के लिए एक शब्द भी मुँह से न निकला। यही तो खून का असर है—इसके अतिरिक्त और हो ही क्या सकता था। आज पहली बार श्रद्धा की कोकिला की बेटी होने का पछतावा हुआ। '...उस स्वर्गीय प्रेम का ऐसा नैराश्यपूर्ण उत्तर वेश्या की पुत्री के अतिरिक्त और कौन दे सकता है'।—यह अनुताप अनुताप और पाश्चाताप की दृष्टि से तो ठीक है, पर कारण के मूल आधार की परीक्षा यह सिद्ध कर सकता है कि उसमें वस्तु दृष्टि से कोई खून के असर का तत्व विद्यमान नहीं। आत्माभिमान को ठेस लगती है, अत्यन्त स्वाभाविक है यह बात; उस समय मन का उद्वेग संकल्प और सद्वृत्ति को शिथिल कर देता है। श्रद्धा ने जो किया उससे कहीं गर्हित

आचरण वे पुत्र और पुत्रियाँ करतीं हैं जो साधुविवाह का परिणाम हैं, अथवा, जो निश्चय ही ऊँचे, पवित्र और कुलीन रक्त की संतान हैं—‘धर्म संकट’ की नारी, और ‘कायर’ का पुरुष ‘श्रद्धा’ और ‘सुलोचना’ के व्यक्तित्व से हर दशा और दिशा में नीचे बैठेंगे। श्रद्धा की मनोवृत्ति ने जो दोष अपने सिर लिया है, वह मनोगत अवस्था के अनुसार स्वाभाविक भले ही हो, पर ‘खून के असर’ को सिद्ध करने के लिए यथार्थ नहीं। यथार्थ में वह मानसिक भ्रम ही इस हीन-भाव का कारण है जिसे भगत राम ने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में रख दिया है: ‘मुझे रह रह कर यह भ्रम होता था, क्या तुम खून के असर का नाश कर सकती हो? क्या तुम एक ही बार अपनी परम्परा की रीति छोड़ सकोगी? क्या तुम जन्म के प्राकृतिक नियमों को तोड़ सकती? इन भ्रम पूर्ण विचारों के लिए श्रद्धा मुझे माफ करना। मैंने शोक न करना। मैं तुम्हारे योग्य किसी प्रकार भी और कभी भी तुम्हारा—जैसा—महान हृदय न बना सका। हाँ इस भ्रम के बश में पड़ कर संसार से मैं अपनी इच्छाएँ बिना पूर्ण किये ही जा रहा हूँ।”

क्या इसमें संदेह किया जा सकता है कि वेश्या पुत्रियाँ और स पुत्रों से निश्चय ही महान निकली हैं। इन पुरुषों ने उनका अपमान किया है, और अपनी मानसिक क्षीणता के कारण प्रेम का अनादर किया है और घर को नरक बनाया है—पर ये वेश्या का कन्यायें पवित्र और उज्ज्वल सत भाव से देशप्यमान मिलती हैं। जन्म का प्राकृतिक सिद्धान्त कुछ है भी? यह प्रश्न प्रेमचन्द ने उठाया है और निश्चय पूर्वक यही सिद्ध किया है—नहीं। तो बालक उत्पन्न होता है निष्कलंक पवित्र, निर्दोष।

अब बालक की क्या मनोवस्था होती है?

गोद का बालक तो खिलौना है, उसकी मनोवस्था का ज्ञान

नहीं हो सकता उसका चित्र भले ही दे दिया जाय। चलने-फिरने और बोलने योग्य हो जाने पर ही बालकों की मनोवृत्तियाँ स्पष्ट होने लगती हैं। फिर भी लेखक यह नहीं मानता कि बालक पर अपनी परिस्थितियों का प्रभाव अवोधावस्था में नहीं पड़ता। अवोधावस्था में भी बालक में प्रतिक्रिया दिखायी पड़ती है। 'तेंतर लड़की हुई है, उसकी उपेक्षा हो रही है। दूध तक उसे नहीं दिया जाता। माँ तो उसकी ओर ताकती भी नहीं। हाँ नाइन कभी चुटकियाँ बजाकर चुमकार लेती तो शिशु के मुख पर ऐसी दयनीय ऐसी करुण वेदना अंकित दिखाई देती कि वह आँखें पोंछती हुई चली जाती थी।' यह दयनीय आर करुण वेदना क्या है? माता पिता की उपेक्षा की प्रतिक्रिया होती है; चुटकी बजाने पर बालक के मुँह पर हँसी आनी ही चाहिए, भूख से विकल और रोग पीड़ित होने पर भी चुटकी से मनोवस्था में प्रफुल्लता उत्पन्न होती है, और ओठों के बाँच मुस्कराहट झलक जाती है, कितनी ही मंद क्यों न हो? अतः 'वेदना' की झलक शिशु की मनोवस्था के कारण ही है, भूख आदिक कारण केवल शारीरिक क्षोभ नहीं। बालक-बालिकाओं को भूख के समय कुछ न कुछ मुँह में देने की व्यग्रता होती है। उनका हाथ प्रकृतितः बारबार उठ कर मुँह को जाता है, वह मुँह खोलकर इस कल्पना में कि हाथ में कुछ है मुँह फाड़ कर हाथ मुँह में दे लेते हैं, जब पूरा हाथ मुँह में नहीं समाता तो सुविधा के लिए अँगूठा दबाये रहते हैं, और उसे चचोरते हुए संभवतः दूध पीने का आनन्द उपलब्ध करते हैं। संभवतः अँगूठा पीने की आदत उन्हीं बालकों में पायी जायेगी जिन्हें दूध पीने को कम मिलता है, किसी कारण से भी हो। बालक को दीपक से भी आकर्षण होता है। "सामने ताख पर मीठे तेल का दीपक जल रहा था, लड़की टकटकी बाँधे उसी दीपक की ओर देखती थी और

अपना अँगूठा चूसने में मग्न थी । "उसका मुख मुस्काया हुआ था, पर वह न रोती थी न हाथ पैर फँकती थी । बस अँगूठा पाने में ऐसी मग्न थी मानो उसमें सुधारस भरा हुआ है । वह माता के स्तनों की ओर मुँह तक नहीं फेरती थी, मानो उन पर उसका कोई अधिकार नहीं ।"

बालिका के इस चित्र से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि उपेक्षित बालक अधिक रोते नहीं । उनमें प्रतिक्रिया स्वरूप यह बोध हो जाता है कि रोना जब अपना कार्य नहीं करता तो व्यर्थ है । बालकों के पास रोना ही तो अपनी आवश्यकता की सूचना देने का साधन है, और जब उसकी ओर ध्यान ही नहीं तो रोना उसकी आवश्यकता न पूरी कर सकेगा—बालक तब नहीं रोयेगा ।

स्नेह को बालक पहचानना है । पिताने बालिका को गोद में उठा लिया और उसका मुख चूमने लगे । लड़की को कदाचित् पहली बार सच्चे स्नेह का ज्ञान हुआ । वह हाथ पैर उछालकर 'गूँ गूँ' करने लगी और पीपक की ओर हाथ फैलाने लगी । उसे जीवन-उद्योति भी मिल गयी ।—तृप्त होने पर बालक ठुमक ठुमक कर खेलना है ।

यह बालक बड़ा हुआ । अब इसे खेल चाहिए, खिलाने वाला भी । खेल की वस्तु देने वाला और खिलाने वाला बालक को प्रिय हो जाता है । खेलने की वस्तु देने वाले के प्रति बालिका या बालक की माँ की कृतज्ञता बढ़ती है । बालक तो वस्तु का चाहता है, खिलौनों को चाहता है, उसके मन में खिलौने देने वाले के प्रति आदर का भाव अवश्य उत्पन्न हो जाता है । ❀ इस अवस्था के बालकों में स्वाभाविक स्मरण-शक्ति भले ही हो किसी विशेष अवसर के लिए विशेष तय्यारी से याद करायी

हुई बात वे भूल जाते हैं। परिस्थितियों की गम्भीरता भी वे समझने में असमर्थ रहते हैं। थोड़ा-सा भी लालच उन्हें देकर उनसे सब कुछ सच सच पूछा जा सकता है। मिठाई का लालच बालक को सबसे प्रबल होता है। उसके प्रलोभन में तो वह माता पिता के बड़े से बड़े भय को भी कुछ क्षण के लिए विस्मृत कर देता है। + परिस्थितियों की गम्भीरता बालक भले ही यथोचित ग्रहण न कर पाये, पर हलकंपन का ज्ञान उसे तुरन्त हो जाता है। वह बोझ और हलकंपन का अनुभव कर सकता है। गंभीरता का नहीं। यह बात बालक तुरन्त भाँप जाते हैं कि अश्व उन पर कैसा शासन है, और वे अपनी बचत का मार्ग निकालने में भी कुशल होते हैं। ≡ इस अस्था का बालक खिलौने वाले का अत्यन्त उपकार मानता है, और उसके प्रति उसकी समवेदना अत्यन्त गहरी हो जाती है। शत्रु-मित्र तथा ऊँच-नीच का उसे कोई ज्ञान वस्तुतः नहीं होता। बालक के इस सहज स्नेह के चित्र अलग्यौभा में भी हैं पर 'कजाकी' तो ऐसे ही बालक के मृदुल सहज सुषमामय संवेदना संयुक्त तीव्र प्रेम का चित्र है।

और जब बालक पाठशाला में जाने योग्य हो जाता है—पाठशाला जाने वाले बालकों में विविध प्रकार का विकास होने लगता है।

प्रेमचंद के बालक

वाम्त्व में बालकों पर प्रेमचन्दजी की दृष्टि आरम्भ काल से ही रही है। सब से प्रथम की—अपने आरम्भिक जीवन की कहानियों में भी बालक भाँकने आ ही गये हैं 'पंच परमेश्वर' में पंचायत

की तय्यारियां हो गयी हैं; पंचायत आरम्भ होने को है—उस समय वहाँ के वातावरण का दृश्य उपस्थित करते हुए कहा गया है :

“लड़के इधर-उधर दौड़ रहे थे । कोई आपस में गाली-गलौज करते और कोई रोते थे ।”

ये दो वाक्य बालकों के सम्बन्ध में बहुत कुछ कह देते हैं । ये बालक खेल के लिए व्यग्र मनोवस्था में हैं । किसी भी प्रकार का विशेष समारोह बालकों को विशेष आकर्षक होता है; उनमें भी अपने ओरपास के वातावरण की चहल-पहल के साथ एक गति और एक उत्तेजना पैदा हो जाती है; वे कोई विशेष महत्त्व पूर्ण कार्य संपादित नहीं कर सकते; ये अपने अन्दर छिपी जीवनी शक्ति को कैसे रोकें, अतः उनकी भाग दौड़ होने लगती है । यह बालकों में स्वाभाविक है, साथ ही उनका रोना भी । रोना तो जैसे उनकी नाक पर रक्खा रहता है । चार-पांच भी बालक खेल रहे होंगे तो उनमें उलझन पैदा हो जायगी, तब धौल-धप्पा साधारण-सी बात है । उस समय रोना सुन ही पड़ेगा । गाली-गलौज सीधी हुई चीज है । अपने घरों में और पड़ोस में उन्होंने जो सुना है उसे निस्संकोच ग्रहण कर लिया है । उसी का प्रदर्शन बालक करने लगते हैं, जहाँ भी उन्हें अवकाश या अवसर मिलता है । ‘पंचायत’ जैसी गम्भीर योजना के लिए इतना बेतकल्लुफ, आतंक और शिष्टाचार गरिमा से शून्य वातावरण भारत में ही मिलेगा, और उस वातावरण में यह हलकापन और गुरुत्व-शून्यता बालकों और कुत्तों के कारण उत्पन्न होती है । बालक वातावरण-भूमिका के चित्रण करने की विविध रेखाओं में से एक रेखा है; विविध रंगों में से एक रंग की भांति आये हैं, और फिर ओझल हो गये हैं । ये रेखाएँ और ये रंग लेखक ने यहाँ

इसलिए नहीं दिये कि उन्हें इनमें रुचि है, नगी, चित्र को ज्यों का त्यों उपस्थित करने के लिए इनकी आवश्यकता थी, आवश्यकता ने प्रेमचन्द को आकर्षित किया और ये दो पंक्तियाँ उनकी लेखनी से चू पड़ीं। बालकों की सामूहिक और विशेष समागो-हिक प्रवृत्ति का ही उल्लेख यहाँ हुआ है।

दूसरी अवस्था की कहानियों में 'बालक' की ओर प्रेमचन्द की दृष्टि पर्याप्त मात्रा में मिलती है। अथ वे बालक को भी कहानी का पात्र बनाने लगे हैं, 'विमाता' में मुन्नू के द्वारा विमाता के प्रेम का परिचय दिया गया है। बालक की स्नेह संवेदनशीलता, उसकी सहज निष्कर्ष बुद्धि और सहज स्थिति को समझने की प्रवृत्ति का परिचय मिलता है। मुन्नू अपनी बाल तर्क-प्रणाली का उपयोग करता है: मा मुझे प्यार करती थी, वह मुझे छोड़ कर स्वर्ग चली गयी। यह मां मुझे पहली मां से भी अधिक प्रेम करती हैं, कहीं ये भी न छोड़ जायँ।

उसमें माता का स्नेह और उसकी मृत्यु की भावी आशंका अश्रु बनकर उसकी संवेदनशील प्रकृति का परिचय देती है। पर वह औरों के सामने अपने निष्कर्ष को कैसे कहे, यह आँसू अपने वश की बात नहीं; अतः उसे बात बनानी पड़ती है "रोता नहीं हूँ, आँखों में धुआँ लग गया था।" यहाँ भी मुन्नू लेखक की टेकनीक का अंग बन कर आया है। कहानी का अभिप्राय न मुन्नू के बाल-सुलभ तर्क कौशल का चित्र देना है, न उसकी संवेदनशीलता दिखाना न उसकी सहज चतुराई का चित्रण करना। 'विमाता' का एक उज्ज्वल रूप रखने की उसकी लालसा रही है—जिस विमाता को गृहदाह में अथवा अलग-थलग में उन्होंने रखा है उससे वे स्वयं अतंकित हुए हैं। और विमाता में उन्होंने विमाता के जन-लाञ्छित रूप को उज्ज्वल करने की चेष्टा की है। उनको दृष्टि मुन्नू की अपेक्षा उस

विचारी विमाता पर है जो अपनी जाति के कदाचारों का प्रायश्चित्त करने के उद्देश्य से ह' जैसे मुन्नू को अत्यधिक प्रेम करती है, बिना किसी प्रतिदान का उपभोग किये हो, पति की दृष्टि में अपने विमातृत्व की मुन्नू व द्वारा प्रतिपल परीक्षा देते देते ही जैसे वह अपनी इह लीला संवरण कर जाती है। इसके लिए यह बालक मुन्नू केवल एक कसौटी है। मुन्नू का इसलिए वही रूप हमारे समक्ष उपस्थित हुआ है जो विमाता के सच्चे प्रेम को समझने में पहले भ्रम उपस्थित करता है और फिर उस भ्रम का निवारण करता है जिससे प्रेम की उद्दीप्ति हो उठती है।

बूढ़ी काकी में बालिका मुन्नू की अपेक्षा कुछ विशेष उभर कर आयी है। हम बालिका लाड़ली के आने से पूर्व बूढ़ी काकी के प्रति बालकों की क्रूरता की झलक भी प्रेमचन्दजी ने दिखा दी है। “लड़कों को बुढ़ों से स्वाभाविक विद्वेष होता ही है, और फिर जब माता-पिता का यह रंग देखते तो बूढ़ी काकी को और भी सताया करते। कोई चुटकी काट कर भागता, कोई उन पर पानी की कुल्ली कर देता।” अब आती है बालिका लाड़ली। उसे अपने दोनों भाइयों का भय लगता है, बूढ़ी काकी के पास स्थान निरापद है अतः अपने हिस्से की मिठाई-चबेना वह बूढ़ी काकी के पास बैठ कर खाया करती थी। उसे काकी से प्रेम हो गया था। माता-पिता ने काकी के साथ जो दुर्व्यवहार किया वह उसे व्यथित कर रहा था। उसने अपने हिस्से की पूड़ियाँ नहीं खायीं और रात में चोरी-चोरी सब के सोजाने पर वह उन्हें काकी को खिलाने ले गयी। बालिका में यहाँ हम पवित्र संकल्प के दर्शन करते हैं। उसमें सहानुभूति है—प्रेमचन्दजी ने लिखा है :

‘उनके बुढ़ापे पर, दीनता पर, हत-ज्ञान पर किसी को

करुणा न आती थी। अकेली लाड़ली उनके लिए कुढ़ रही थी। बेचारी भोली लड़की थी। बाल-विनोद और चंचलता की उममें गन्ध तक न थी, दोनों बार जब उसके माता पिता ने काकी को निन्द्यता पूर्वक घसीटा तो लाड़ली का हृदय ऐंठ कर रह गया। वह झुंझला रही थी कि यह लोग काको को क्यों बहुत सी पूड़ियाँ नहीं दे देते? क्या मेहमान सब की सब खा जायेंगे? और यदि काकी ने मेहमानों में पहले खा लिया तो क्या बिगड़ जायगा? वह काकी के पास जाकर उन्हें धैर्य देना चाहती थी, परन्तु माता के भय से न जाती थी। उसने अपने हिस्से की पूड़ियाँ न खायी थीं। वह उन पूड़ियों को काकी के पास लेजाना चाहती थी। बूढ़ी काकी में बात सुनते ही उठ बैठेगी। पूड़ियाँ देख कर कैसी प्रसन्न होंगी। मुझे खूब प्यार करेंगी। काकी को पूड़ियाँ खिलाने की खुशी उसे सोने न देती थी। जब विश्वास हो गया कि अम्मा सो रही हैं, तो वह चुपके से उठी चारों ओर अँधेरा था केवल चूल्हों में आग चमक रही थी; और चूल्हों के पास एक कुत्ता लेटा हुआ था। लाड़ली की दृष्टि द्वार के सामने वाले नीम की ओर गयी। उसे मालूम हुआ कि उस पर हनुमानजी बैठे हुए हैं। उनकी पूंछ, उनकी गदा, स्पष्ट दिखलायी दे रही थी। मारे भय के उसने आँखें बन्द कर लीं, इतने में कुत्ता उठ बैठा, लाड़ली को दाढ़स हुआ।”

इस छोटे से चित्र के द्वारा बालिका का बाहर भीतर का और निजी तथा संस्कार गत रूप लेखक ने उपस्थित कर दिया है। बालिका जैसे माता-माता और भर्द्द-बहिन के समस्त आचरणों की प्रतिक्रिया है। वह बूढ़ी काकी का उस मरुभूमि में सहारा है, जैसे यही उसका अपना कर्तव्य है। अपनी ओर पास की क्रूर वाचालता और शठ-कार्यशीलता के विपरीत

वह गंभीर रहने वाली, और बाल-चाञ्चल्य से रहित है। उसकी बालबुद्धि ठीक वस्तु को देखती है, प्रणाली, रूप या अवसर या अवकाश का लिहाज नहीं करना चाहती। मेहमान क्या पूड़ियाँ खा जायेंगे ? पहले काकी को देने में क्या हज़ है—यह प्रश्न क्रूरता की प्रतिक्रिया के रूप में ही नहीं है, उसकी सहज करुण प्रकृति के फल स्वरूप है।

भय का तत्व सबमें विद्यमान रहता है, बड़े हं चाहे छोटे सभी इसके शिकार हैं। पर भय का रूप सबके लिए भिन्न होता है। बड़े मनुष्यों में परिज्ञान सीमा के आधार पर अनुमान, आशंका रहस्य, भेद, अज्ञान आदि उपादानों के कारण भय पैदा होता है। बालक की अविकसित मानसिक अवस्था में ये ऊँचे सूक्ष्म अवस्थान्तर उत्पन्न नहीं होते, उनका भय तो कोई निश्चित आकार ग्रहण करके आता है। साकार होकर। अँधेरे में भय लग रहा है लाड़ली को, पर वह भय खड़ा कैसे हो ? बाल-सुलभ भय-भ्रम ने हनूमानजी का रूप धारण किया; नीम के वृक्ष की हिलती डुलती शाखाओं में ऐसे हनूमान कितने मनुष्यों को बाल-जीवन में दिखायी न पड़े होंगे।

बालिका के सहानुभूतिपूर्ण प्रेमसिक्त हृदय में काकी को पूड़ियाँ देने का काम एक पूरा साहसिक कार्य है। साहस से पूर्ण, अनोखेपन से युक्त और नवीनता से ओत-प्रोत। इसी साहस-संयुक्तता के कारण लाड़ली को नौद नहीं आती। गंभीर बालक धुन के पक्के होते हैं। चंचल बालकों के विचारों और संकल्पों का शब्द और शरीरगत क्रियाओं से रेचन हो जाता है और वे प्रशमित हो जाते हैं। लाड़ली जैसे बालक संकल्प को सुरक्षित रखते हैं और कार्यान्वित करके ही दम लेते हैं। लाड़ली की बेचैनी उसी स्वभाव का परिणाम है।

इसी दूसरी कोटि में दो भाई तथा 'दुर्गा का मन्दिर' नामक कहानियाँ ऐसी हैं जिनमें बालक का उल्लेख उत्तर चरित्र से अन्तर करने के लिए दिया गया है, या पिता के मानसिक क्षोभ के कारण के रूप में उपस्थित किया गया है।...“कलावती दोनों बेटों को जॉयों पर बैठा दूध और रोटी खिलाती थी। .. दोनों मुँह में कौर लिये, कई पग उझल-कूद कर फिर जॉयों पर आ बैठते और अपनी तोतली बोलो में .. दोनों में बड़ा स्नेह।

x

x

x

दूसरी कहानी में

“बाबू ब्रजनाथ कानून पढ़ने में मग्न थे और उनके दोनों बच्चे लड़ाई करने में। श्यामा चिल्लाती थी कि मुन्नू मेरी गुड़िया नहीं देता। मुन्नू रोता था कि श्याम ने मेरी मिठाई खा ली।” ‘पंच परमेश्वर’ में घर से बाहर कुदान मचाते बालकों के समूह हमने देखे थे, बूढ़ी काकी में घर के बालकों में बालिका ही विशेष उभरी। इन दोनों में भी घर के अन्दर क्रीड़ा, किलोल करते बालक दिखायी पड़ते हैं। इन कहानियों में बालक कहानी के आवश्यक अंग नहीं हैं उसके अलंकारिक तत्व हैं।

मुन्नू कहानी में मुन्नू कसौटी की भौंति आवश्यक था, ‘शंखनाद’ में बालक प्रेरणा का बीज मंत्र बन कर आया है, महा-तीर्थ में वह मुख्य पात्र है और कहानी के अभिप्राय और उसके अन्तर्गर्भित प्रेम को प्रोज्ज्वल करने के लिए वह यज्ञाग्नि है, और ‘सचाई का उपहार कहानी केवल बालकों के जगत से संबंध रखती है—उसमें सभी पात्र बालक हैं—पुरुष तो प्रसंग वशात् उन बालकों के चित्र को पूर्णतः विकसित करने के लिए सहायक यष्टि की भौंति ही लाये गये हैं।

शंखनाद में ‘घर और बालकों’ के संबंध को प्रेमचन्दजी ने

यों स्पष्ट किया है, और यहीं उन्होंने बालकों का मिठाई-या खौंचा प्रेम भी दिखा दिया है।

“पांडे के घर के चूड़ों की तरह चौधरी के घर बच्चे भी सयाने थे। उनके लिए मिट्टी के घोड़े और लकड़ी की नावें, कागज की नावें थीं। फलों के विषय में उनका ज्ञान असीम था। गूलर और जंगली बेर के सिवा कोई ऐसा फल न था जिसे वह बीमारियों का घर न समझते हों। लेकिन गुरदीन के खौंचे में ऐसा प्रबल आकर्षण था कि उसकी ललकार सुनते ही उनका सारा ज्ञान व्यर्थ हो जाता था। साधारण बच्चों की तरह यदि वह सोते भी हों तो चौंक पड़ते थे। गुरदीन उस गाँव में सोप्ता-हिक फेरे लगाता था। उसके शुभागमन की प्रतीक्षा और आकांक्षा में कितने ही बालकों को बिना किंडरगार्डन की रंगीन गोलियों के ही संख्यायें और दिनों के नाम याद हो गये थे। गुरदीन बूढ़ा सा मैला कुचैला आदमी था, किन्तु आसपास में उसका नाम उपद्रवी लड़कों के लिये हनुमान-मंत्र से कम न था। उसकी आवाज सुनते ही उसके खौंचे पर बालकों का ऐसा धाबा होता कि मक्खियों की असंख्य सना को भी रणस्थल से भागना पड़ता था।” बालकों की दृष्टि से यह गुरदीन के महत्व का चित्र है।

अब बालकों की मनःविकलता का रूप देखिये :

“...बच्चे बड़ी बेचैनी से अपने दरवाजे पर खड़े गुरदीन की राह देख रहे थे। कई उत्साही लड़के पेड़ों पर चढ़ गये थे और कोई कोई अनुराग से विवश हो कर गाँव से बाहर निकल गये थे।” गुरदीन आता हुआ दिखाई दिया। लड़कों ने दौड़ कर उसका दामन पकड़ा और आपस में खींचातानी होने लगी। कोई कहता था मेरे घर चलो, कोई अपने घर का नौता देना था।

इस समस्त बाल समूह में एक बालक इन सबसे अलग था उसके पास पैसे नहीं थे; पर वह इसे क्या जाने—

“यह कठिन था कि बालक धान अपने भाइयों बहिनों को हँस हँस और उछल उछल कर मिठाइयों खाते देखे और सन्न कर जाय। उस पर तुरा वह कि वह उसे मिठाइयों दिखा दिखा कर ललचाते और चिढ़ाते थे। बेचारा धान चीखता था और अपनी माता का आँचल पकड़ पकड़ कर दरवाजे की तरफ खींचता था।” माँ के पास पैसे न थे, बहलाने पर भी धान बालक कैसे बहले। बालकों को तो मिठाइयों चाहिए शब्द की मिठास नहीं, आश्वासन भी नहीं। “धान किसी तरह चुप ही न होता था। जब कुछ वश न चला तो माँ की गोद से उतर कर जमीन पर लोटने लगा और दुनियाँ सिर पर उठाली।”

‘बालहठ’ का यह चलचित्रवत् दृश्य है। ‘बालहठ’ प्रसिद्ध है। मिठाई का लालच तो बड़ी चीज है, उसको उत्तेजना मिलती है चिढ़ाने और ललचाने से—बालकों के हृदय-जगत में इन दोनों तत्वों का कितना मूल्य है और ये शस्त्र कितने तीखे हैं। चिढ़ाने में मज्जा भी बालकों को कितना आता है। रूँचेवाले बालकों के इस मनोविज्ञान को भली प्रकार जानते होते हैं। इस चिढ़ाने से उत्तेजित हो कर बालक को अपनी स्थिति का ज्ञान नहीं रहता। समझाना फुसलाना किसी काम का नहीं रहता। साधारण रोना जब काम नहीं देता तो उन्हें अपने अस्त्र को उग्र रूप देना पड़ता है—और यह है पृथ्वी पर लोट लोट कर चीखना। यह बालकों के रोने की पराकाष्ठा है—इसके बाद या तो, जीत या पराजय—फिर क्रोधोन्माद।

‘खून सफेद’ के साधो की भांति बालक चुप्पे पर संकल्पशील भी होते हैं। साधो को भी मिठाइयों ने ललचारा है और

पादरी के नम्र प्रेमाचरण वात्सल्य ने भी उसे विमुग्ध किया है— वह इसी लालच में माँ बाप से अलग हो जाता है। शिशु ही है तब वह—

“साधो बोला, अब मैं न खाऊँगा। साहब कहते थे कि मैं तुम्हें रोज अच्छी-अच्छी चीजें खिलाऊँगा। मैं अब उनके साथ रहा करूँगा।” और अच्छी चीजों के लालच में वह पादरी के साथ चोरी से चला गया।

उधर महातीर्थ में बालक मुख्य अङ्ग तो है पर वह दूसरों को तपाने के लिए है—वह जैसे अपना रूप खड़ा करने के लिए नहीं है। है वह भी शिशु ही। बालक दाइ को प्रेम करने लगा है। दाई घर से निकाल दी जाती है, बालक उसके लिए रोता है। वह शिशु है अभी, लड़खड़ा कर चल लेता है। अन्ना के लिए उसके हृदय में हूक उठती है।

दाई लोटकर नहीं आती तो वह मचल कर जमीन पर लोट जाता है। अन्ना-अन्ना कहकर रोता है। मिठाई, मेला, गोद, प्यार, चुमकार का भी प्रभाव नहीं और न बन्दर, सिपाही, लूटू या हौआ का ही। न लालच में आकर्षण, न भय का आतंक। कुछ देर को भुलावे में आ जाता है, थक कर सो लेता है, अथवा ‘अन्ना’ की रट है। वह अक्सर सोते-सांते चौक पड़ता है और अन्ना-अन्ना पुकार कर हाथों से इशारा करता, मानों उसे बुला रहा है। अन्ना को खाली कोठरी में बैठा रहता है। उसे आशा होती कि अन्ना यहाँ आती होगी। इस कोठरी का दरवाजा खुलते सुनता तो अन्ना ! अन्ना ! कहकर दौड़ता। उसे खाने के पदार्थों से रुचि नहीं रह गयी।

इस बालक के अन्ना-प्रेम का उन्माद तीसरी कोटि में पहुँचा। अब वह बालक (रुद्र) उसकी कल्पना में मग्न रहता। वहाँ

इसकी अन्ना चलती-फिरती दिखाई देती थी ।.....अकेले बैठ कर कल्पित अन्ना से बातें करता, '...सबो होते ही लोटा लेकर दाई की कोठरी में जाता और कहता 'अन्ना, पानी...' अपनी चारपाई पर तकिया रखकर चादर से ढाँक देता और कहता, अन्ना साती है। यह बालक में वैराग्य जनित उन्माद था, जिसका फल है—युत्तर ।

ये छोटे बालकों की मनोवस्था के चित्र हैं ।

और 'सच्चाई का उपहार' है पाठशाला जाने वाली अवस्था के बालकों का । इस कहानी में बालकों की कई मनोवृत्तियाँ स्पष्ट झलकती हैं । किसी भी काम को करने में सभी लड़कों की रुचि नहीं होती, फेर बारा-बाटिका का काम तो शारीरिक श्रम है, उसे कुछ पढ़ने वाले लड़के ठीक नहीं समझ सकते । उनके घरेलू संस्कार और वर्ग का गर्व भी इसमें सहयोग देता है । प्रेमचन्दजी ने इस कहानी में बताया है—'अधिकांश लड़के इस काम को रुचिपूर्वक करते । इससे उनका मनोरञ्जन होता था । किन्तु दर्जे में चार-पाँच लड़के जमींदारों के थे । उनमें कुछ ऐसी दुर्जनता थी कि यह मनोरंजक कार्य भी उन्हें बेगार प्रतीत होता ।'

ऐसा क्यों होता—इसकी भी व्याख्या लेखक ने कर दी है :

"उन्होंने बाल्यकाल से आलस्य में जीवन व्यतीत किया था, अमीरी का झूठा अभिमान दिल में भरा हुआ था । वह हाथ से कोई काम करना जन्मदा की बात समझते थे ।"

इसलिए—१. वे श्रदाना भी करके इस काम से बचने का उद्योग करते थे ।

२. दूसरे लड़कों को भी बहकाते थे । 'बाह ! पढ़ें' पारम्भी, 'बेचें तेल !' यदि खुरपी कुदाल ही करना है तो मद्गमे में

किताबों से सिर मारने की क्या जरूरत ?

बालकों में योजना तय्यार करने की भी प्रवृत्ति होती है, विशेषकर ऐसी योजना जो नटखटपन से युक्त हो। इसीलिए बगीची उजाड़ दी गयी फिर भेद खोलने वाले सीधे-सच्चे लड़कों को पीटने का भी षडयंत्र रच डाला गया। बदला लेना स्वाभाविक प्रवृत्ति है, बालक कम ही क्षमा कर सकते हैं।

भय की मात्रा बालकों में विशेष होती है। पीटने में एक बेहोश हो गया तो सभी घबड़ा कर भागे। तीन-चार दिन तक छिपे रहे। प्रेमचन्दजी ने यह भी दिखाया है कि लड़कों का मन शीघ्र ही साफ हो जाता है, और जिस ओर श्रद्धा बढ़ती है, अति वेग से बढ़ती चली जाती है।

यह कहानी केवल बालकों से सम्बन्ध रखती है, और उनमें सत्य-प्रेम और नैतिक आदर्शों के प्रति श्रद्धा करने का भाव उत्पन्न करती है।

तीसरी स्थिति में पहुँचकर बालक की ओर विशेष ध्यान गया है, और उससे विविध काम लिए गये हैं।

कई कहानियाँ ऐसी हैं जिनमें बालक बहुत ही साधारण भाग लेता है। पञ्चपरमेश्वर की भोंति एक वातावरण विशेष का एक अङ्ग बन कर—अपने बालकत्व के लिए गौक्ष, वातावरण की सम्पूर्ण व्यवस्था में अपने व्यक्तित्व में विसर्जित किए हुए। नेउर में बालक हैं—वे ही नेउर को काकी की मृत्यु का सन्देश देते हैं। दूसरा स्वागत किसी थके प्राणी के स्वागत के लिए गाँव की जैसे समस्त चंचल निधि आगे दौड़ कर उपस्थित हो गयी हो—

“लड़कों ने दौड़कर, उछल-कूदकर, उसकी लकड़ी उसके हाथ से छीन कर, उसका स्वागत किया।” गाँव के बालकों की बहुत दिन के बिछुड़े नेउर के प्रति यह असीम आत्मीयता कितनी

स्थाभाविक और ऊर्म है। पर कितनी भावुक कि काकी की मृत्यु की सूचना देने पर जब वह निस्पंद हो गया, और फिर वह जब एकदम तेजी से घर की ओर बढ़ा तो—

“बालकवृन्द भी उसके पीछे दौड़े; मगर उनकी शरारत और चञ्चलता भंग गयी थी।

‘विश्वास’ कहानी का तेजस्वी बालक, जो मिस जोशी के मिलने जाते समय आपटे के गले में हाथ डाल रहा था उनकी पीठ पर चढ़ने के लिए; वह बालक दोनों की बातें सुनकर पकड़ने की बात पर सजग होकर अपने दादा की रक्षा करने के लिए सिपाहियों को मारने के लिए अपने खेलने का डण्डा उठा लाया और आपटे के पास बीरोचित भाव से खड़ा हो गया मानों सिपाहियों से उनकी रक्षा कर रहा है—इसके साथ चित्र आता है उस लड़की का * जो सताये हुए बैलों के साथ सहानुभूति रखती है और चुपचाप उन भूखे बैलों को एक-एक रोटी खिला जाती है—‘उस एक रोटी से इनकी भूख तो क्या शान्त होती; पर दोनों के हृदय को मानों भोजन मिल गया। यहाँ भी किसी सज्जन का बास है’—‘सौतेली माँ उसे मारती थी; इसलिए इन बैलों से उसे एक प्रकार की आत्मीयता होगयी—और उस आत्मीयता की पराकाष्ठा वहाँ है जहाँ उन विचारे बैलों के नाथे जाने का विचार सुनकर उनकी रस्सी खोल दी गयी और उन्हें भगा गयी। इसमें सन्देह नहीं कि ‘विश्वास’ कहानी का बालक जोशी और आपटे की बातों की एक-रसना को विचलित करने के लिए मरुस्थल में उद्यान की भाँति चहक उठा है, उससे कथानक को सहायता नहीं मिलती; कथानक में आये एक स्थ विशेष में मनोरञ्जकता भर जाती है। यह

लड़की दो बैलों की कथा में कथा का कायं करती है, उसकी सहानुभूति में लेखक ने कहानी की कथा को आगे बढ़ाने का काम किया है, बैलों की रस्मी खोलने का काम उससे लिया ही गया है। इस कहानी में नेउर कहानी के जैसे बालक भी है, वे समूह के समूह बैलों का स्वागत करने के लिए इकट्ठे हो गये हैं, ताली बजा बजा कर स्वागत कर रहे हैं। उनके हृदयों में बैलों के प्रति श्रद्धा उमड़ी पड़ती है—कोई अपने घर से रांठियाँ लाता है, कोई गुड़, कोई भूसी। इस प्रकार इस तीव्र स्थिति की कहानियों में हम बालकों को विविध रूप में चित्रित पाते हैं—कहानी के कथा प्रवाह की दृष्टि से बालकों का उपयोग निम्न-प्रकार से हुआ है—

१—कहानी के वातावरण के निर्माण-तत्त्व और अंश की भाँति—जैसे, नेउर में, इस कहानी में बालकों से संदेशदाता का भी काम लिया गया है। पंचपरमेश्वर की भाँति केवल वातावरण के निर्माण तत्त्व बन कर नहीं रह गये। इस कहानी में उनसे भाव-परिवर्तन के दिग्दर्शन की माप का भी काम लिया गया है।

२—कहानी में अन्य बातों के साथ प्रसंग की भाँति बालकों का उल्लेख हुआ हो जैसे स्वामिनी में। यह उल्लेख इसलिए भी किया गया है कि तदनुसार भाव भी उत्पन्न हो सके।

३—कहानी के प्रवाह में एक आनन्दमय परिवर्तन उपस्थित करने के लिए—जैसे, 'विश्वास' नाम की कहानी में।

४—कहीं-कहीं बालकों को किन्हीं, विचारों, भावनाओं अथवा सकलों की परीक्षा की कसौटी के रूप में ही उपस्थित किया गया है—जैसे, 'माता का हृदय', कहानी में। कहानी का विषय ही माता के हृदय की खोज है जिसमें बाल्य

बालक नहीं माता है। बालक तो उसको परीक्षा करने या मा के हृदय का रूप खोल देने का कुर्झा या कसौटी है।

५—बालक का कहानी में अभिनिवेश कहीं-कहीं एक आकस्मिक ऐसी घटना के रूप में हुआ है कि जिससे कहानी के सूत्र-सञ्चालक के लिए विशेष प्रकार की सामग्री तथा अवस्था प्राप्त हो जाती है। जैसे 'दो कत्रों' में बालक के जन्म की घटना से सामाजिक रुचि और अरुचि का वह रूप खड़ा हो जाना है जिससे कहानी अपनी समाप्ति पर पहुँच सकती है।

६—बालक का स्मरण कहीं-कहीं बालरूपन की याद के लिए और वय-प्राप्त अवस्था में विभेद-पदार्शन के लिए भी हुआ है, जैसे 'गुल्ली डंडा' में कहीं-कहीं बाल्यावस्था का वर्णन युवा-वस्था में मिलने वाले भावों के सूत्र के बीजारोपण का दृश्य दिखलाने के लिए भी हुआ है। जैसे विद्रोही में—“बचपन का वह दिन आज भी आँखों के सामने है, जब तारा एक फ्राक पहने, वालों में एक गुलाब का फूल गूँथे हुए मेरे सामने आकर खड़ी हो गयी। कह नहीं सकता, क्यों मैं उसे देखकर कुछ झँप सा गया। मुझे वह देव-कन्या-सी मालूम हुई, जो उषा-काल के सौरभ और विकास से रञ्जित आकाश से उतर आई हो।”

७—कहानी के सूत्रों को आगे बढ़ाने तथा उनकी गति को सहायता देने में भी बालक ने सहायता पहुँचायी है जैसे—'दो बैलों की कथा' में 'लड़की' का सहारा बैलों को खूंटों से मुक्त करने और उन्हें भगाने में लिया गया है, जिसके बिना कहानी का आगे बढ़ना बिना बैलों के उज्ज्वल रूप के धूमिल विये असम्भव हो जाता।

८—इसी प्रकार कहानी की गति के साथ-साथ कहानी के

मनोवैज्ञानिक तत्व को स्पष्ट करने में और उसे आगे बढ़ाने में भी बालक सहायक पताकास्थानक की भाँति आये हैं—‘लाछन’ में ‘शारदा’ का यही पार्ट है। ‘शारदा’ के आधार पर खेल कर ही महतर पति-पत्नी में ‘खाई’ को बढ़ाता जाता हैं। शारदा को खिलौने देना, उसकी मृत्यु पर मातमपुरसी करने आना केवल कहानी के घटना-प्रवाह में सहायक नहीं, उसके लिए मनोवैज्ञानिक भूमिका तैयार करने में, मनोवैज्ञानिक प्रगति देने में भी सहायक होती है।

६—मनोवैज्ञानिक धरातल ही नहीं, एक भावमय क्षेत्र उत्पन्न करने और कहानी में हृदय स्पर्शिता लाने के लिए भी बालकों ने अपना स्थान कहानियों में बनाया है—जैसे ‘मृतक भोज’ में।

१०—कहानी के प्रथम अर्द्ध में जब उसका अभिप्राय प्रकट नहीं हो पाता तो कहीं-कहीं बालक ने जन्म लेकर कहानी के उत्तरार्द्ध का भार अपने ऊपर लेकर कहानी के ‘अभिप्राय’ को सफल करने में सहायता पहुँचायी है—जैसे ‘डामुल का कैदी’ में बालक जन्म लेता है अपने पिता के कर्म का प्रायश्चित्त करने के लिए।

११—कहीं कहीं बालक की शरण लेकर अप्रत्यक्षतः कहानी में दूसरे पात्रों के चित्रों के विशेष गुण (या अवगुण) खोल कर रख दिये हैं—‘मृतक-भोज’ में बालकों का सहारा पाकर ही विविध पंचों की आन्तरिक मनोवस्था और उनकी क्रूरता की यथार्थता का रूप सामने आता है। बालक सब की सहानुभूति का पात्र है, उसे सहानुभूति पाने के लिए खड़ा कर उन पात्रगणों की क्रूरता की पराकाष्ठा दिखायी गयी है जो मौखिक द्विषिता का ढाल पाटते फिरते हैं।

१२—कहीं कहीं बालक केवल भूमिका के रूप में संख्या ६ की भांति स्मरण की भांति नहीं, आकर कहानी की प्रस्तावना तैयार करते हैं—जैसे सौभाग्य के कोड़े में।

१३—बालक कहीं कहीं सम्पूर्ण कहानी का मुख्य केन्द्र बना हुआ है—कहीं यह केन्द्र निष्क्रिय है—जैसे 'मन्दिर' में, 'जियावन' को लेकर, उमके लिए ही सारा काण्ड उपस्थित होता है, और उसकी मृत्यु पर ही समाप्त होता है। केन्द्र बालक है, यद्यपि कहानी का अभिप्राय और विषय बालक नहीं।

१४—और तब ऐसी कहानियाँ हैं जिनमें केवल बालक ही बालक है—यही कहानियाँ शुद्ध रूप से 'बालक' सम्बन्धी कहानियाँ कही जा सकती हैं। बालक इनमें गौण नहीं—केन्द्र है तो बालक है, विषय है तो बालक है, अभिप्राय कुछ भी हो। कहानी के सभी सूत्र बालकों में होकर पिरोये हुए हैं—इन कहानियों के सभी मुख्य पात्र बालक है।

ये कहानियाँ आठ के लगभग हैं। 'सचाई का उपहार' नामक कहानी का उल्लेख पहले हो चुका है। यह पाठशाला जाने वाली अवस्था के बालकों की कहानी है और स्कूल ही में इसका मुख्य क्षेत्र है। स्कूल सम्बन्धी दूसरी कहानी 'चोरी' है। चोरी के बालक सकतब में मौलवी साहबसे पढ़ते हैं पर कहानी के सूत्र का बीज बालकों के घर में है, स्कूल या सकतब तो उस सूत्र का एक अंश है। बालकों की पढ़ती चोरी, उनकी बुद्धि, उनके संकल्प और उनके सहारे घर में भेद-विभेद के दिग्दर्शन कराती है और 'चची' के यह शब्द कि "भूठा तो तू है, और तो सारा संसार सच्चा है। तेरा नाम निकल गया है न ! तेरा बाप भी नौकरी करता, बाहर से रुपये कमा लाता, चार जने उस भला आदमी कहते, तो तू

भी सच्चा होता ।' भारतीय गृहग्रन्थ में विद्यमान भाई भाई में वर्ग (Class) आश्रित्य की सूचना देकर कहानी समाप्त होजाती है । स्कूल से सम्बन्धित बालकों की तीसरी कहानी 'बड़े भाई साहब' है । प्रश्न है एक भाई छोटा पर जहीन है दूसरा बड़ा है पर इतना तेज पढ़ने में नहीं । छोटा बिना अधिक मेहनत किये ही कक्षा में उत्तीर्ण होता चला जाता है, बड़ा दिन रात घोर परिश्रम करके भी फेल होता जाता है । बड़े भाई का शासन छोटे पर हर दशा में रहेगा, बड़े भाई साहब कहते हैं :—

“तुम अपने दिल में समझते होगे, मैं भाई साहब से महज एक दरजा नीचे हूँ, और अब उन्हें मुझको कुछ कहने का हक नहीं है; लेकिन यह तुम्हारी गलती है । मैं तुमसे पाँच साल बड़ा हूँ और चाहे आज तुम मेरी जमाअत में आ जाओ ... और शायद एक साल बाद मुझसे आगे भी निकल जाओ लेकिन मुझ में और तुम में पाँच साल का अन्तर है, उसे तुम क्या, खुदा भी नहीं मिटा सकता ? ... तो भाईजान, यह गारुर दिल से निकाल डालो कि तुम मेरे समीप आगये हो और अब स्वतंत्र हो । मेरे देखते तुम बेराह न चलने पावोगे । अगर तुम यों न मानोगे तो मैं (थपड़ दिखा कर) इस का प्रयोग भी कर सकता हूँ । ...”

इस शासन की व्यवस्था के अतिरिक्त कहानी में बालकों की मनोवृत्ति, परीक्षा, अध्ययन, उनके खेलने का भाव, अस्थिर मति, अभिमान, पढ़ाई की दशा आदि का प्रसंगवशात् उल्लेख हुआ है, इससे शिक्षा व्यवस्था का रूप सामने आ जाता है, और बालकों पर उस का हानिकर प्रभाव भी प्रत्यक्ष हो जाता है ।

इसी विषय से सम्बन्धित एक कहानी 'प्रेरणा' है । एक

अत्यन्त नटखट और उद्दण्ड बालक है, अध्यापकों के लिए बचाले ज्ञान और एक समस्या— 'बीस बाईस अनुभवी और शिक्षा-शास्त्र के आचार्य एक बारह-तेरह साल के उद्दण्ड बालक का सुधार न कर सके, यह विचार बहुत ही निराशाजनक था।' वही बालक अपने छोटे ममेरे भाई का आभेभावक बना। बालक से उसे प्रेम हो गया, उसकी उन्नति के लिए वह व्यग्र रहने लगा, उसने उसके लिए आदर्श जीवन बनाना आरम्भ किया, और उन्नति कर गया। शासन से नहा आदर्श बन कर आदर्श उदाहरण से बालक का उपकार और उससे स्वयं अपना उपकार होता है। प्रेरणा मिलने पर मन में एक लगन पैदा हो जाने पर चरित्र को आदर्श बनाया जा सकता है; अपना अन्तःप्रेरणा सब कुछ करा सकती है, बाहरी प्रतिबन्ध, अनुशासन तथा उपदेश कोई अर्थ नहीं रखते।

अब शेष तीन कहानियाँ रामलीला, कजाकी और ईदगाह हैं। इनका सम्बन्ध स्कूल से नहीं, इनका संबंध है— बालक और घर तथा परिस्थिति; बालक और उसका खिलाने वाला; तथा बालक और घर की अवस्था से मिली उसकी मनः दृष्टि।

इन कहानियों से बाल-मनोविज्ञान और बाल-जीवन संबन्धी यह तथ्य निकलते हैं—

१—बाल-जीवन में खेल-तमाशे बड़े रुचिकर लगते हैं, और उनमें आनन्द से भी बढ़कर उन्माद होता है। उसमें काम करने का उत्साह तीव्र हो जाता है, शरीर स्फूर्ति से भर जाता है।

२—बालक को खेल-तमाशे में भाग लेने और काम करने में रुचि रहती है, कहीं उसके प्रगल्भ पात्र के साथ रहने का अवसर उसे मिल जाय तो 'उल्लास और गर्व तथा रोमांच' की मीमांसा की माप नहीं हो सकती।

३—खेल में दौंव लेने में बड़ा उत्साह रहता है। “दौंव छोड़ने के लिए कहीं भारी आत्म त्याग की जरूरत होती है।”

४—खेल के प्रधान पात्र के प्रति बालक का आकर्षण बड़ा प्रबल होता है, और उसके प्रति श्रद्धा भी अत्यधिक उत्पन्न हो जाती है। उसके लिए बालक यथाशक्त सब कुछ करने को सन्नद्ध रहता है।

५—जब बालक को अपना अभिप्राय पूरा होता नहीं दीखता तो उसकी विकलता और विह्वलता अत्यन्त तीव्र हो जाती है। इस अवस्था का दुःख भी जीवन सबसे अधिक प्रतीत होता है।

६—बालक शीघ्र ही तो मन के अनुसार कार्य न होने पर रूठ जाता है, न बोलने-चालने का संकल्प कर लेता है, और शीघ्र ही फिर सब भूल जाता है, जैसे ही उसे लगता है कि पूर्व प्रतिष्ठा प्राप्त हो गयी।

७—बालक में श्रद्धा एकदम लुप्त नहीं हो जाती। जिसे वह व्यक्ति के नाते प्रेम करने लगता है, बाहरी स्थितियों में परिवर्तन हो जाने पर भी वह उस प्रेम को और उसके सम्बन्ध में अपने कर्तव्य को निबाहता रहता है। वह भी अपने सत्कार-पात्र का सत्कार करने में नहीं हिचकता और उसके लिए अपने हिस्से की वस्तुओं का त्याग करने को तत्पर रहता है।

८—बालक में अनुकरण-प्रियता होती है। वह जो दूसरों को करते देखता है, वह स्वयं भी करता है। उसे शोभ और लज्जा का भान वयोवृद्ध वयस्कों से भी अधिक होता है। रामलीला के बालक ने जब देखा कि मेरे पिता ने बिना कुछ दिये ही आरती उतारी है, तो उस समय उसे अत्यधिक लज्जा आई, और उसने अपने पास रखा हुआ रुपया आरती में डाल दिया।

६—बालकों में समझ की कमी नहीं होती । जहाँ पर बहुधा समझा जाता है कि यह बालक है क्या समझता होगा, वहाँ वस्तुतः भूल ही होती है । बालक सब समझता चलता है ।

१०—बालक भी साधारण समाज में प्रचलित घृणा आदि भावों को अपना लेता है, और उसमें भी अपने और अपने माता-पिता के सम्मान का भाव प्रबल होता है । उस सम्मान को ढहते वह नहीं देखना चाहता और ढहते देखता है तो वह दुःखी होता है । माता-पिता के सम्बन्ध में उसका ऊँचा भाव होता है, और उसमें ठेस लगना बालक को असह्य हो जाता है । रामलीला का बालक इसीलिए वेश्या के प्रति अपने पिता के भाव देखकर दुःखी और लज्जित हुआ ।

११—बालक में औचित्य और अनौचित्य में तुलना और भेद करने के भाव का अभाव नहीं होता ।

१२—अपने आदर्श के विपरीत अपने पिता को आचरण करते देखकर बालक में पिता के प्रति विद्रोह की भावना उठ खड़ी होती है ।

१३—बालक में भय का भाव विशेष प्रबल होता है, अंधेरे में उसे विचित्र रूप दिखायी पड़ते हैं, पर जिसकी चाह उसके हृदय में होती है, उसके प्रति प्रबल उत्कंठा में भय भी बाधा नहीं पहुँचाता । डरने वाला कजाकी कहानी का बालक रात में भी कजाकी के आने की ध्वनि सुनकर उसके लिए भग पड़ा था !

१४—बालक जब किसी ऐसे व्यक्ति के द्वारा परेशान हो जाता है जिसे वह बहुत प्रेम करता हो या जिसकी अत्यन्त प्रतीक्षा में हो, वह बहुत झुंझलाता है, और झुंझलाहट में उस व्यक्ति को ताबड़तोड़ मारता है, और फिर रुठकर खड़ा हो जाता है ।

१५—बच्चे में अपने उपकारी के प्रति कृतज्ञता और प्रति-

कार करने की भावना भी होती है। कजाकी के निकाल दिये जाने पर बालक के मन में यह भाव हुआ कि “मेरे पास सोने की लंका होती तो कजाकी को दे देता और बाबूजी को दिखा देता कि आपके निकाल देने से कजाकी का बाल भी बाँका नहीं हुआ।” और वह चोरी-छिपे भी जा कुछ कर सकता है अरथ करता है।

१६—बालक जब कुछ कर नहीं पाता। और बहुत कुछ करने की उमंग मन में होती ही है तो वह बिलख बिलख कर रो पड़ता है।

१७—बालक में रोने के बाद हा एक दम हँसी भी फूट पड़ती है।

१८—बच्चे शोक में खाना नहीं छोड़ते। खास कर जब खड़ी भी सामने हो।

१९—बालक मन के महल बहुत शीघ्र तैयार कर लेता है।

२०—बच्चा माता पिता के प्रेम और उपेक्षा को भली प्रकार समझता है।

२१—बच्चों के साथ समझदार बच्चे बन कर मां-बाप उन पर जितना अमर डाल सकते हैं, जितनी शिक्षा दे सकते हैं, उतना बूढ़े बनकर नहीं।

२२—बालकों का हृदय बड़ा कोमल होता है। उनमें अपने भावों को व्यक्त करने के लिये शब्द नहीं होते। उन्हें यह भी ज्ञान नहीं होता कि कौनसी बात उन्हें बिकल कर रही है? क्यों बार बार उन्हें रोना आता है। क्यों वे मनमारे बैठे रहते हैं? खेलने में जी नहीं लगता?

२३—बच्चे पहले जितना प्रेम करते हैं बाद को उतने ही

निष्ठुर होजाते हैं। जिस खिलौने पर प्राण देते हैं, उसी को चारों तरफ के बाद पटक कर फोड़ भी डालते हैं।

२४—बच्चों में अद्भुत कल्पनाशक्ति होती है, और वे अद्भुत बातों पर शायद ही प्रबल विश्वास जमा लेते हैं। हमें यह विश्वास करता था कि 'उमके अम्माजान रुपये कमाने गये हैं। बहुत सी थैलियाँ लेकर आयेंगे। अम्माजान अन्नाहमियाँ के घर से उनके लिए बड़ी अच्छी-अच्छी चीजें लाने गयी है।

२५—भावां आशा बालक को प्रसन्न करने के लिए पयांते हैं। बालक वर्तमान वस्तुस्थिति और चिन्ता के लिए परेशान नहीं होता।

२६—बालक नटखट और हँसोड़ होता है। दूसरों के परेशान होने पर उसे हँसी अवश्य आती है।

२७—अनी रामक के अनुसार संभव-असंभव आलोचना और समाधान करने की भी योग्यता बालक में होती है।

२८—बच्चे खिसिया भी जल्दी जाते हैं।

२९—बच्चों को भी अपने कृत्य की प्रशंसा की चाह होती है।

३०—मिठाइयाँ बच्चों को प्यारी लगती हैं।

३१—बच्चों में ललकारने की योग्यता होती है। दूसरों को चिढ़ाना और नीचा दिखाना भी पसन्द होता है।

३२—बालकों को जीट उठाने में बड़ा आनन्द आता है।
(गुल्लीडण्डा)

बालकों की इन कहानियों में हम यह बात पाते हैं कि लेखक ने विविध मनोवैज्ञानिक तथ्यों का समावेश किया है। पर यह भी स्पष्ट कर दिया है कि बालकों का भी चारित्र्य होता है। उनका भी व्यक्तित्व होता है, उनमें भी निजीपन होता है। उनके विचारों

और कार्यों का सरल और स्वाभाविक धरातल केवल इस अर्थ में होता है कि जीवन के लिए अमूल्यपूर्ण बातों को वे गहरी नींव नहीं दे सकते। समुद्र में उठने वाली विविध ऊँची-नीची लहरों की भाँति उनका तरल हृदय उद्वेलित हो जाने पर भी शान्त क्षणों में सम और अविकृत हो जाता है। बड़े-बड़े षड-यन्त्र रचकर भाँ, बड़ी-बड़ी गलतियों काँके भी, बड़े-बड़े झगड़े और विरोध करके भाँ दूसरे ही क्षण सहज मित्र-भाव से मिलना वे जानते हैं। पर उनके तरल हृदयों का आन्वेलन, उनके कार्य उनके अपने ढंग के होते हैं।

बालकों का जो चित्र 'ईदगाह' कहानी में उपस्थित हुआ है, वह अभूतपूर्व है और उसके सहारे कहानी का धरातल बहुत ऊँचा हो गया है। यह कहानी प्रेमचन्द की सर्वश्रेष्ठ कहानियों में है। हामिद में सम्पूर्ण तरल बाल-चारित्र्य के साथ एक चारित्रिक दृढ़ता है। वह चारित्रिक दृढ़ता किसी समझदार व्यक्ति की भाँति नैतिक आधार पर नहीं खड़ी हुई। हामिद में फिलासफी का अभाव है। हामिद एक स्वस्थ भ्रान्त बालक है, जो यथार्थ के निकट है। उस यथार्थ को उसने बल-दृष्टि और बाल-भावुकता से नाश है। तीन पैमे हैं और अतगिनी वस्त्रों की प्रदर्शनी है, अने लुभावने रूतों के साथ, ठगने के लिए। हामिद की बाल-भावुकता में बूढ़ा दादी का वष्ट चिमटे को देखकर भूत उठता है, और अपनी मण्डली में अपनी रक्षा करने और अपने हान-भाव को मन्तुष्ट करने के लिए प्राकृतिक रक्षा-योजना की प्रणाली से चिमटे को खिज्जने के रूप में प्रहण करने और उसी रूप में उसे सबके सामने उपस्थित करने की भावना उसमें उत्पन्न हो उठती है। अन्तु बालक स्वस्थ है, विविध तर्कों से अपना और अपने चिमटे का आतङ्क जमा

कर भी वह स्पष्ट कह देता है—

“मैं तुम्हें चिढ़ा रहा था, सच । यह लोहे का चिमटा भला इन खिलौनों की क्या बराबरी करेगा । मालूम होता है अब बोले, अब बोलें ।”

यथार्थ विमटे को भौंति ठोस होता है । दरिद्र उसी के सहारे ठहर पाता है, धनी यथार्थ से और ठोस से दूर हटता चला जाता है । हामिद का चिमटा चाहता तो सचमुच अपने सब साथियों के खिलौने तोड़ सकता था, पर उसने तोड़े नहीं वे अपने आप भले ही टूट गये । हामिद के चरित्र का यथार्थ भी बिना किसी को अपदस्थ किये अपने गुण के आधार पर आगे बढ़ता चला जाता है, अन्य उसको कोमल कठोरता से तेज से अपने आप ही भले ही जुब्ब हो उठे हों ।

‘सचाई के उपहार’ की गान्धीवादी प्रेरणा से चलकर बाल-चरित्र के विविध दर्शन कराते हुए प्रेमचन्द कजाकी के बालक और ईदगाह के हामिद तक पहुँचे हैं । उनके सहारे उन्होंने भारतीय घर और भारतीय शिक्षा और पिता-माता को उत्तरदायित्व हीनता को खोतकर रख दिया है । ये बालक के सीमा बन्धन हैं और इन सीमा-बन्धनों में बालक के लिए कोई रस नहीं, ये बालक को जुब्ब और शुष्क करते हैं । विलास, स्वार्थपरता और अदूरदर्शिता से घर में तत्व नहीं रह गया—विमाताएँ विलास के भाव को जन्म देती हैं, घर में घनिष्ठता का सूत्र टूट जाता है । विमाता सपत्नी-पुत्र को किस सीमा तक अपना समझे जा सकती है और घर का केन्द्र पुत्र और उसकी बधू कहाँ तक उस मातृत्व को सहेंजे जा सकते हैं, कहीं न कहीं इसमें विघ्न पड़ेगा ही और बालकों के लिए घर अभिशाप बन जायगा । स्वार्थपरता का समावेश होगा । स्वार्थ

हार्डस्कूल की भलक 'प्रेरणा' तथा 'बड़े भाई साहब' में मिलती है। 'प्रेरणा' में नटखट बालक की समस्या के साथ इस प्रश्न पर प्रकाश डाला गया है कि शिक्षा-प्रणाली कितनी जड़ है—वह एक विशेष प्राणवान बालक को मार्ग पर नहीं ला सकती है, वह प्रणाली शिक्षा के अर्थार्थ तत्व से अनभिज्ञ है। केवल कक्षा अथवा 'स्कूल' में बालक को उचित मार्ग पर लाने का उद्योग कभी सफलता नहीं पा सकता। 'बड़े भाई साहब' में आधुनिक 'शिक्षा-प्रणाली' में इतने अधिक अनिवार्य विषयों के समावेश करने के अवैज्ञानिक ढंग पर टिप्पणियाँ हैं। 'बड़े भाई साहब' जैसे उसके एक व्यंग्य हों।

कालिज भी कहानियों का विषय बना है, पर उसमें प्रणाली पर कोई विशेष आलोचना नहीं, उसमें तो कालेज-अवस्था के नवयुवकों की विनोद-शीलता का चित्राङ्कन है।

छोटी अवस्था से लेकर युवावस्था तक के इन चित्रोंको देखने से यह अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है कि लेखक बालकों के चरित्र को इन शिक्षा-संस्थाओं से बिल्कुल असंबद्ध मानता है। ये शिक्षा संस्थायें बालकों के चरित्र-निर्माण में कुछ भी हाथ नहीं बँटाती, जो उद्योग किया जाता है वह कक्षा में निग्रह रखने का ही होता है। जो कुछ अच्छाई है वह बालक की निजी है। हाँ, इन्हीं कहानियों में लेखक ने 'माँ' नाम की कहानी में शिक्षा-सम्बन्धी एक और तथ्य को स्पष्ट कर दिया है—वह है घर की शिक्षा और स्कूल की शिक्षा में विरोध। माँ ने अपने यत्न और परिश्रम से अपने बालक को देश-सेवा के लिए तैयार किया है, पर माँ से अलग होकर वह स्वार्थ-सेवा के संस्कार-ग्रहण करता है—यह संस्कार उसे अव्यक्त रूप से आधुनिक शिक्षा-प्रणाली से ही मिले हैं जिन्हें दूसरों के प्रति सहानुभूति और

अपने त्याग के लिए कोई स्थान नहीं। पर लेखक ने कौशल से इस अवगुण को भी जैसे बालक के 'निजीपन' से ही उद्भूत बताया है—उमने बिना स्कूल अथवा कालेज का उत्सव मिये हो उस बालक से स्वभावतः स्वार्थ-बुद्धि का उदय और पशु-स्व-कारणता से शून्यता दिखायी है। मुल्ला-हंडा में शिजा समस्याओं में पारचात्य खेला कर्मान-प्रकर्षण को आलोचना है। देशी खेलों की उपयोगिता पर टिप्पणी है।

बालक नटखट भी होते हैं, पर निग्रहशील भी होते हैं। बालकों में भ्रम भ्रान्ति होती है, वे सत्य के लिए प्राण दे सकते हैं। उनमें अध्यापक के लिए श्रद्धा होती है। बड़े होने पर रंगीनी पकती है। ऐसे विविध चित्र हमें इन कहानियों में मिलते हैं।

बालकों के इस अध्ययन के साथ इस अवस्था में प्रेमचन्द्रजी ने प्रेम कहानियाँ भी लिखीं।

से दूरदर्शिता का लोप हो जाता है। शिक्षा प्रणाली में व्यक्ति की धीरे-धीरे उपेक्षा है, जिसमें व्यक्ति या तो निर्जीव हो जाता है, या विरोध का अखाड़ा तैयार करता है। माता-पिता घर की भाँति केवल अपने को देखते हैं, बालक का आदर उनमें नहीं अतः बालक में तेजस्विता का अभाव है। परिस्थितियों में नहीं प्रकृति के अपने नियम में बालक में अपने को सुगन्धित रखने का, अपने व्यक्तित्व-निर्माण का बीज और कर्म है। यह बीज और कर्म हामिद में पूर्ण परफुटत हुआ है।

बालकों के साथ शिक्षा-समस्या का घनिष्ठ सम्बन्ध है, उस पर भी कुछ विचार कर लिया जाय। शिक्षा के लिए पुराने मकतब भी हैं, जिनमें मौलवी साहब के पास बच्चे पढ़ने जाते हैं। मौलवी साहब का प्रधान व्यवसाय कुछ और है, उन्हें तीतर

बटेर की लई का शौक है। यों तो मौलवी साहब का आतङ्क बहुत है पर लड़के उनकी कमजोरी भी जानते हैं और उसका लाभ उठाकर वे दण्ड से बच जाते हैं। प्राइमरी पाठशालायें भी हैं, जिनके अध्यापक बच्चों से बेगार लेते हैं। बाटिका लगायी जाती है, जिसमें पानी देना बच्चों का काम है। साधारणतः बच्चे श्रद्धापूर्वक यह काम करते हैं, पर सभी बच्चे एक वर्ग के नहीं। जमादार के जिन बच्चों को घर पर काम नहीं करना पड़ा वे यहाँ भी कैसे करें, और तब उनमें बेगार और विद्रोह का भाव पैदा होना है। परस्पर दलबन्धियाँ होती हैं। इन पाठशालाओं के पश्चात् अंगरेजी स्कूल भी हैं। जिनमें होने वाली पढ़ाई की भी आलोचना विद्यार्थी की दृष्टि से प्रेमचन्द जी ने कराई है। उनका निष्कर्ष समस्त शिक्षा-प्रणाली के सम्बन्ध में यही है कि वह असन्तोष जनक है, और उसका दृष्टिकोण व्यवसायिक है।

प्रेमचन्द की प्रेम कहानियाँ

प्रेम से अभिप्राय यदि स्त्री-पुरुष के प्रेम से लें तो प्रेमचन्द में इससे संबंध रखने वाली कहानियाँ उंगली पर गिनी जा सकेंगी। प्रेम—यह नर-नारी प्रेम प्रेमचन्द जी का विषय नहीं रहा। उन्होंने यौन प्रेम का विषय नहीं बनाया, प्रेम के दीवाने मात्र, दीवानों की विकृत मनःसृष्टि शरत की भांति इनके कथानकों की प्रेरणा नहीं बन पायी। जहाँ भी प्रेम-इसी नर-नारी-स्त्री-पुरुष संबंधी प्रेम की कहानी उन्होंने खड़ी की है,—वहाँ प्रेम का रूप तो उन्होंने पूरा खड़ा कर दिया है पर उसमें से बोई और संदेश भी हमें भांकता मिलता है, संभवतः प्रेमचन्द जी प्रेम को, यौन-प्रेम को मानव जीवन का एक मात्र प्रभावशाली तत्व नहीं बनाना चाहते, वे प्रेम की उपादेयता पर तो विश्वास करते हैं, पर स्वस्थ मानव में उसी का रंग देखना उन्हें अस्वाभाविक लगता है। उनकी शुद्ध

प्रेम-कहानियां लीजिए, एक है लैला स्वर और सौन्दर्य की देवी—वह रगीन जरूर थी !

“लैला के रूप-लालित्य की कल्पना करने हों तो उषा की प्रफुल्ल लालिमा की कल्पना कीजिए जब नील-गगन स्वर्ण-प्रकाश से रंजित हो जाता है; बहार की कल्पना कीजिए, जब बाग में रंग रंग के फूल खिलते हैं और बुलबुलें गाती हैं।”—

और उसके रूप के साथ स्वर था। शहर का धिरकती हुई लालिमा सा। प्रेमचन्द अपनी कल्पना में उस स्वर के संबंध में यह रूप खड़ा करते हैं।

“लैला के स्वर-लालित्य की कल्पना करनी हो तो उस घंटी की अनवरत ध्वनि की कल्पना कीजिए जो निशा की निस्तब्धता में उंटों की गरदनों में बजती हुई सुनाई देती है, या उम्रवांसुरी की ध्वनि की जो मध्याह्न की आलस्यमयी शान्ति में किसी वृत्ता की छाया में बैठे हुए चरवाहे के मुख से निकलती है”—नादिर लैला के प्रेम में सौदाई हुआ। महल छोड़ कर अपने ही राज्य में लता के साथ फकीर बन गया और तब वह जैसे लैला के हृदय में समा ही गया अन्त में लैला उसकी होगयी। विवश होकर अपने हृदय से।

पहले तो लैला अपने हृदय में नादिर के प्रति उषेता भरे यह कह सकी थी—

“लेकिन यहाँ शाहजानों का क्या काम ? उनके लिए महल हैं, महफिलें हैं और शराब के दौर हैं, मैं उसके लिए जीती हूँ जिसके दिल में दर्द है, उसके लिए नहीं जिसके दिल में शौक है।” वही लैला एक दिन कह उठी—

ताअजुब की बात नहीं। पहले मेरा दिल खुला हुआ था, उस

में सबके लिए जगह थी; वह सबको खुश कर सकता था। उसमें से जो आवाज निकलती थी, वह सबके दिलों में पहुँचती थी, अब तुम उसका दरवाजा बंद कर दिया, अब यहाँ सिर्फ तुम हो, इस लिए उसकी आवाज तुम्हीं के कानों में आती है। यह दिल अब तुम्हारे सवा और किसी के काम का नहीं रहा।”

दोनों का प्यार हुआ। प्रेम का नाश था नादिर बाद-शाह हुआ। लैला मलिका। लैला का पतल राजा का पतल था, पर प्रजा अपंगुष्ट हो गयी। लैला तेहरान छोड़ कर चनी तो साथ नादिर भी राज्य छोड़ कर हो लिया, एक वर्ष उपरान्त फिर नादिर का राजा बनाया गया। लैला फिरानी। इस बार लैला प्रजाहित विरोधनी हो गयी। प्रजा पर जुल्म हो उठे। एक बार नादिर ने प्रजा का दुःख सुन पाया। वह दुःख में घर मौन आ पड़ा, कई दिन लैला सन बोलती। लैला उसे छोड़ कर उस समय चली गयी, जब नादिर इस निश्चय पर पहुँचा कि लैला ही उसके लिए सब कुछ है। वह साम्राज्य छोड़ेगा, पर लैला को नहीं। लैला प्रेम की लोड़ी थी, वह पहल ही उसे छाड़ कर सदा के लिए चली गयी थी।

“लैला और नादिर का प्रेम प्रेम है, उसी प्रेम का अभिव्यक्ति के लिए यह कहा है, और उस प्रेम को कसा भी गया है और सच्चाई समने आई गयी है कि नादिर और लैला का प्रेम प्रगाढ़ था और हृदय था। साम्राज्य की गरिमा और मूल्य से भी वह सम्भवतः बड़ा था। यह सब इतना स्पष्ट होते हुए भी इस प्रेम-कहानी में प्रेम का त्रिकोण नहीं बनता। नादिर और लैला दो बिन्दुओं में प्रेम सीधा होकर समाया चला जाता है, अन्य प्रेम-कहानी कही जाने वाली कहानियों की भाँति प्रेम की कसौटी-प्रतियोगी-प्रेमिक यहाँ नहीं, यहाँ प्रेम को तौल डाला गया है,

राज्य और तत्सम्बन्धी कर्तव्यों से । लैला के द्वारा व्यक्त की गयी अपनी विवशता में लेखक ने यह अत्यन्त स्पष्ट कर दिया है कि जहां प्रेम है वहां किसी दूसरे को रखा नहीं; प्रेम में प्रतियोगी नहीं हो सकता, वहीं यह भी स्पष्ट है कि प्रेम संकुचित कर देने वाला भी है, हृदय के समस्त व्यापक अंशों में एक में केन्द्रित होजाते हैं, अतः किसी प्रतिद्वन्दी की धारणा आवश्यक नहीं, उसकी परीक्षा के लिए जीवन में आने वाले अन्य अनेकों तत्व हैं, उन्हें क्यों मुला दिया जाय। इस कारण प्रेमचन्द जी का प्रेम विश्वासघात और ईर्ष्या की चंचला में प्रगाथी पैदा करा देनेवाला या मृगवृष्णा में भटकाने वाला नहीं । शाश्वत सुखित और स्निग्ध है वह जिसमें कोई बाहरी तत्व आकर नहीं प्रयुक्तता बरन् अपने ही जीवन का दूसरा पहलू उससे उत्पन्न करता है । नादिर और लैला के इस प्रेम का दुःखद अन्त्य इस बात में है कि नादिर बादशाह भी है और इस रूप में लेखक ने कौशल से प्रजा-हित और प्रेम में संघर्ष उपस्थित करा दिया है, एक समस्या नहीं बर दी है । यह समस्या वाञ्छ्य नहीं । कहीं भी इस समस्या का उल्लेख कहानी में हुआ नहीं मिलता । फिर भी इसी समस्या के लिए लैला का इतनी कोमल तैराकी में लेखक ने सृजन किया—मानव में ये रागात्मक तत्व हैं, ये अपना संतोष चाहते हैं ।

कनुष्ट्रुप्त हो वे, तो मानव में एक हृदय एक तन्त्र बन रही है । मानव में फिर ये बौद्धिक तत्व हैं जिनसे वह बुद्धिसमय बनने का ढोंग करता है, और जहाँ वह अपने निज की छोड़ अपने परत्व को महत्व देने लगता है । वहाँ पहुँच जाता है, जहाँ कर्तव्य आरम्भ होता है । नादिर का क्या प्रजा के प्रति कोई कर्तव्य नहीं ? वह लैला के हाथ की गुड़िया क्यों बन ? यह प्रश्न कहानी यह समस्या तो अपने प्रेम के प्रश्न में ही आत्मसात् किं हुए है,

पर इसके अतिरिक्त प्रजातन्त्र की दुर्बलतायें भी, राजा का कर्तव्य भी उसमें ध्वनित हो उठे हैं।

ऐसे ही प्रेम की दूसरी कहानी है दिल की रानी। पर इस कहानी में लेखक ने तर्ज और तौर बिल्कुल ही बदल दिया है। लैला में प्रेम से कहानी चली, प्रेममय होती हुई, प्रेम के लिए समाप्त हुई—इसमें स्फुट प्रेम है—वाच्य। इधर 'दिल की रानी' में यह व्यंग्य हो गया है। दीवाना हुआ नादिर भी—लैला के लिए राज-पाट छोड़ बैठा—दीवाना हुआ तैमूर भी हबीब के लिए, और वह उसे एक प्रकार से राज्य दे बैठा। तैमूर के रंग-दंग में, उसके आचरण में अनायास ही महान परिवर्तन उपस्थित करा डालने वाला निश्चय ही प्रेम का जादू था, और इस कहानी में प्रेमचन्द का कौशल यह है कि उस प्रेम के जादू की अभिव्यक्ति उन्होंने प्रेम के प्रभाव की ही भाँति की है—जैसे प्रेम-वास्तविक गम्भीर प्रेम बिना प्रबल रूप से प्रकट हुए अपने प्रभाव से प्रभावित करता चला जाता है, उसी प्रकार जेन ने तैमूर को और सखमुच हबीब को भी अपने साये में लिया है। और प्रेमचन्द की ने जिना उसे कहीं भी शब्दों द्वारा प्रकट किये उसके प्रभाव का प्रबलतर कर दिया है। इस प्रेम की सारी आधार-भूमि राजकीय व्यापारों की है; कहीं भा प्रेम का प्रस्ताव नहीं, कहीं भी प्रेम की एक व्याख्या नहीं, गुलों और चमनों बुलबुलों और शहारों, कटाक्षों और मादक मुस्कराहटों का उल्लेख नहीं। हबीब लड़के को भाँति तैमूर का सामना करता है। तैमूर को खरी बातें सुनाता है, तैमूर की नीति की निन्दा करता है, तैमूर के सनत उसके दोषों का—राजनीतिक दोषों का उद्घाटन करता है। तैमूर उसकी प्रशंसा करके उसी युवक को जो युवती है, अपना वजीर बना लेता है। वजीर बन कर हबीब अलग रहता हुआ अपने प्रचण्ड की धाक बैठा देता है। हबीब इस्तखर

के विद्रोह को शान्त करने जाता है। वहाँ वह 'विद्रोही' ईसाइयों का पक्ष लेता है। मुसलमान भड़कते हैं—अमीर तैमूर आकर हबीब को उसके इस कार्य के लिए बधाई देता है, भर्त्सना नहीं; और वहीं अन्त में तैमूर उसे अमीन बनाने का प्रस्ताव करता है, तो उसे स्वीकार करते हुए हबीब कहती है—

“लेकिन आपको मालूम हो जाय कि हबीब एक कच्ची उम्र की कारी बालिका है तो ?”

“तो वह मेरी बादशाहत के साथ मेरे दिल की रानें भी हो जायगी ?” केवल यही इस प्रेम का क्रियार्थक रूप स्पष्ट हुआ है।

इस प्रेम की गर्मी से उद्वेलित इस कहानी में राजनीति, मुसलमान धर्म को फैलाने के सम्बन्ध में क्रूर-नीति, तलवार-बल से शासन, इन सबके विविध विकारों के ताने-बाने लेखक ने खड़े कर दिए हैं। जैसे इन्हीं बातों को कहानीकार कहना चाहता हो।

और इसमें भी इस प्रेम का कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं। पुरुष-वेष के परिवेष्टन में नारीत्व की कामल मधुर सज्ज आभा से भिल्लमिलाता प्रेम—ऊपर से प्रेम की उतावली से अतरंगित प्रवाहित होता चल रहा है—प्रेमिका का चरित्र, उसका पुरुष-रूप, उसका उद्दीप्त नैतिक तेज, इन्हीं ने उस प्रेम का तीखा किया है, इन्हीं ने उस प्रेम को मन्द-मन्द अग्नि से सेका है। तैमूर ने जानते हुए भी जिस प्रकार हबीब के पुरुष-वेष का सम्मान किया है, उसने कहानी के प्रेम को संयम की सुषमा से अभिमर्दित कर दिया है। तैमूर जब हबीब से एकान्त में मिलता है और मसनद पर बैठते हुए यह कहता है—

“मुझे ताअज्जुब होता है कि तुम इस जवानी में जाहिदों की

सी जिन्दगी कैसे बसर करते हो हबीब ! खुदा ने तुम्हें वह हुश्र दिया है कि दुनिया की हसीन से हसीन नाजनीन भी तुम्हारी माशूक बन कर अपने को खुशानीव भभकेंगीं"—तो अपना पूरा हृदय खो कर रख तो देत है, पर इससे आगे बढ़ नहीं पाता । वही, प्रेम के उस नीचे धरातल पर उतर कर चञ्चलता और चपलता का अभिनय करने से रोकने वाला है वहाँ का संतुष्ट वातावरण । लैला में मर सोने की चञ्चल वादकता थी, बेसुध करने वाली ; उस हकीकत में प्रशान्त प्रेम का अरुदुबुद हेम-मुहरता, प्रभात-सूर्य की निरुका-शीतल किरणों से लगी अर उद्मुद करने वाली । अतिमय प्रेम दोनों में है, पर लैला में जो कतेअ-प्रेम का संवर्ष था, यह यहाँ कितव नहीं । लैला में प्रेम भोग्य बन कर कुछ बुण्डित हो उठा है, इस 'दिल की रागी' में वह प्रेम इष्ट में समर्पित हो गया है, त्याग ही नदिर में भी, उसी से वह लैला को जीत सका । पर वह प्रेम के भोग को प्राप्त करने के लिए—जहाँगीरी प्रेम है वह, भीन्द-लोतुर । भतर और बहुत भतर त्याग है तमू में आर वह सबस्व त्याग है । नादिर ने त्याग भूत-ऐश्वर्य, उसका अपना व्यक्तित्व—उसका अपना स्वरूप कुछ भी नहीं रखा । तैमूर ने अपने सम्पूर्ण स्वत्व को विगलित कर दिया, हबीब के चरणों में । तैमूर का भूत ऐश्वर्य कम नहीं था पर उसके त्याग का दर्शन लेखक ने कराया नहीं । नादिर को भौत तैमूर को भिखारी बनना नहीं पड़ा । उममा यह—भूत-त्याग तो नदिर के त्याग से कहीं आगे उसके इन शब्दों भाव में बढ़ जाता है जब वह हबीब से कहता है—

“अगर तुम यह समझते हो कि यह ताज और तख्त मेरे रास्ते” के रोड़े हैं, तो खुदा की कसम मैं आज इन पर लात मार दूँ” उसे भिखारी नहीं बनना पड़ा—फिर भी उसका त्याग हिमशृङ्ग-वत् है, क्योंकि उसने अपना समस्त स्वभाव समर्पित

कर दिया और उस स्वभाव की ऐंठ भी उसने हबीब के लिए तब स्वाहा कर दी, जब वह हबीब इस्ताखर में मुसलमानों द्वारा तैमूर का बिट्टेही साज का बन्द बन लिया गया था। वह दूत आगू पूर्ण था, जब तैमूर ने अपने प्रिय के हाथ अपने को मिनते देखा और उस पर अपनी छाप भी लगायी—उसके व्यक्तित्व का वह अन्तम दुर्दान्त भास प्रेम के थैले में बन्द होगयी तैमूर तब बड़ा है हबीब के लिए, तैमूर मुसलमान है। मुसलमान धर्म का प्रचारक—विस्तारक है। उसकी यह सन्तोधारा है—

‘भव में पड़ताया हं रहा था कि उसने क्यों हबीब को अकेला जाने दिया—माना कि वह बड़ा नीति-कुशल है; पर बगावत कहीं जोर पकड़ गयी तो मुट्ठी भर आदमियों से वह क्या कर सकेगा ? और बगावत यकीनन जोर पकड़ेगी। वहाँ के ईसाई बला के सरकश हैं.....’ हबीब कहीं दुश्मनों में घिर गया तो बड़ा गजब हो जायगा।

उसने अपने जानू पर हाथ मारा और पहलू बदल कर अपने ऊपर भुँकलाया,..... न हबीब के घिर जाने की कल्पना ही कितनी दुःखद है—वह उग्रता से सोचने लगा...

हबीब फरिश्ता है जो इन्सान की बुराइयों से वाकिफ नहीं। जो रहम, और बेगरजी का देवता है.....

पर जङ्ग में जब कि शैतानी जोश का तूफान उठता है, इन खूबियों की गुन्जायश नहीं..... अमन का कानून जङ्ग के कानून से बिलकुल जुदा है।”—और तभी इस्ताखर से दूत आकर पैगाम देता है—

“खुदाबन्द, वजीर साहब ने जजिया मुआफ कर दिया।

तैमूर गरज उठा—क्या कहता है, जजिया मुआफ कर दिया ?

“हाँ, खुदाबन्द।”

‘किसने ?’

‘बजीर साहब ने ।’

‘कसके हुक्म में ?’

‘अपने हुक्म में हुजूर ।’

और अब वह प्रतिक्रिया जिसे उसका सम्पूर्ण समर्पण कहा जा सकता है आरम्भ होती है । इस बात को सुन कर जो उत्तर दिया, वहाँ से तैमूर का उत्तर है—

“हूँ”

“गिरजों में घण्टे बजाने का भी हुक्म हो गया”

“हूँ”

“और खुदाबन्द ईसाइयों से मिल कर मुसलमानों पर हमला कर दिया ।

“तो मैं क्या करूँ” और यह भुँ मलाहट-पूर्ण विचशता से भरा उत्तर क्या उस दुर्दान्त तैमूर का है ? यह त्याग है । तो प्रेम कहानी है यह दिल की रानी । पर क्या क्या अन्य निषय इसमें नहीं आये हैं । सारी राजनीति जो बल से शासन की भूखी है, जो एक मत और मजहब की नींव पर खड़ी हो कर मानवता को कुचलता है, उस सब की गम्भीर आलोचना और पशु-बल पर गहरा व्यंग्य इस प्रेम कहानी में है, कहानी रोचक है और बिना प्रतिद्वन्द्वी—प्रातियोगी के ।

और फिर एक कहानी है “कामन तरु” । एक राजकुमार को दुर्दैव से शत्रु से भाग कर अपने एक जागीरदार के यहाँ गाँव में शरण लेनी पड़ी । वहाँ जागीरदार की लड़की चन्दा से प्रेम हो गया । दोनों ने एक पेड़ लगाया । कुछ दिन बाद शत्रुओं ने उसे पकड़ कर बन्दी बना लिया । विरह-व्यथा में पीड़ित बीस वर्ष बाद वे जैसे तैसे भाग निकले और उसी गाँव में पहुँचे । वह

पेड़ वहाँ था और सब उजड़ चुका था, वहाँ एक अकेला पक्षी आता था. वह चन्दा थी। राजकुमार ने भी प्राण छोड़ दिये वे भी पक्षी हो गये। अब दोनों पक्षी साथ-साथ रहते।

यह कहानी “लैला” और “दिल की रानी” से भी आगे बढ़ी हुई प्रेम कहानी है। इसमें भी प्रेम वाच्य है—स्पष्ट है। इसमें भी प्रेमी-प्रेमिकाओं के प्रेम में बाधा डालने वाला कोई पात्र प्रवेश नहीं पा सका है। राजकुमार और चन्दा एक दूसरे को प्रेम करते हैं, बिना रोक टोक। पिता की भी सम्मति हो जाती है। इस प्रकार वह स्वीकृत-प्रेम है। इसमें न नादिर की भाँति लैला के पाने का कोई प्रयत्न है, न तैमूर की भाँति हथौथ को अपनाने में कोई अड़चन। दोनों मिल गये, एक दूसरे को प्रेम करने लगे। प्रेम पाने में और उसे प्रकट करने में कहीं कोई बाधा नहीं। इससे आगे है दोनों का वियोग और फिर-वियोग। ‘कामना तरु’ का प्रेम रोमांटिक प्रेम है। लैला में प्रेम वाच्य होते हुए भी विविध व्यापारों और व्यवसायों में से प्रभावित होता हुआ गया है, पर कामना तरु का प्रेम कूच-विरहित प्रेम है—आदि से अन्त तक जैसे प्रेम-काव्य हो और इसीलिए अलौकिक-भाग्य, जड़-जगत और पुनर्जन्म के भँवर से उद्भूत। प्रेम का जब बीज वपन होता है तभी प्रेम-कामना से एक तरु भी आरोपित किया जाता है। उस तरु से लिपटे-लिपटे उनका प्रेम बढ़ता जाता है। वह दिव्यता प्राप्त कर लेता है। कामना-तरु का महत्व राजकुमार के लिए तीर्थ जैसा हो जाता है। दिव्य होकर वह लौकिक-प्रेम भक्ति में परिणत हो गया है। कहानी लेखक ने भी कहा है—“कुँआर को कामना-तीर्थ में महीनों लग गये”—इस प्रेम में भक्ति की परिणति तो है ही उन्मत्तता भी है, उसी उन्मत्तता में संकल्प सिद्ध करने की शक्ति

और का मिली, उसमें मैं चन्दा को भी मिली। निस्सन्देह इसमें भक्ति की उन्मत्तता है।

प्रतिद्वंद्वी में शून्य होने पर भी कहानी में परिस्थिति और घटनाओं ने असीमपूर्ण नहीं होने दिया। परिस्थिति-वक्र ने ही उन्हें एक दूसरे से विलग कर दिया है। इस कहानी से यह स्पष्ट होता है कि प्रेम के लिए—उसके विकास के लिये प्रतिद्वन्द्वी का होना आवश्यक नहीं। अन्य प्रकार की घटनाएँ जिनका मानव के प्रेम-क्षेत्र से सम्बन्ध नहीं, उसके अन्य पुरुष जीवन से सम्बन्ध रखती हैं, मार्ग में आकर प्रेम-क्षेत्र के असीम उपभोग में बाधा पहुँचाती हैं, प्रेम-प्राप्ति में बाधा नहीं। उसकी उपा-लब्धि में बाधा पहुँचाती है।

प्रायः अधिकांश प्रेम कहानियों में दो ही व्यक्ति हैं, प्रेमी और प्रेमिका। तीन कहानियों के उदाहरण तो ऊपर ही दिये जा चुके हैं। जिन कहानियों में और ऐसे दो ही पात्र आते हैं, वे हैं 'कायर', 'मिम पद्मा', 'विस्मृति', 'आगा पीछा', 'ज्योति', 'धिकार', 'दो कब्रें', 'सौभाग्य के कोड़े', 'भौंकी', 'शिकार', 'नेउर', 'अभिलाषा', 'प्रेम का उदय'—इन कहानियों में प्रेमी और प्रेमिका के बीच कोई तीसरा व्यक्ति नहीं आता।

किन्तु कुछ कहानियाँ ऐसी भी हैं, जहाँ प्रेमी और प्रेमिका के बीच में एक तीसरा व्यक्ति आता है—'घासवाली', 'विश्वास', 'रहस्य', 'मर्यादा की वेदी', 'आहुति', 'विद्रोही', 'तथ्य', 'धर्म संकट', 'हार की जीत', 'स्मृति का पुजारी', 'दो सखियाँ', 'धोखा', 'कैदी', 'सती', 'वेश्या'—बस; तो देखना यह है कि दो व्यक्तियों के बीच में आने वाला व्यक्ति क्या करता है? इन कहानियों को भी हम एक क्रम में वर्ग बना कर रख सकते हैं—कुछ कहानियाँ तो इनमें ऐसी हैं, जिनमें प्रतिस्पर्धा

दो बत्ती तक नहीं—वे हैं—

‘घासवाली’, ‘रहस्य’, ‘तथ्य’, ‘धर्म संकट’, ‘स्मृति का पुजारी’, ‘धोखा’, ‘विद्रोही’ ।

‘घासवाली’ में एक जमींदार युवक घासवाली से रसिकता करने जाता है। घासवाली विवाहित है। वह जमींदार युवक को रसिकता का तिरस्कार करती है। और सच्चे प्रेम का प्रकाश युवक के हृदय में उदय हो उठता है। उस प्रेम के प्रकाश में वह घासवाली को वासना के क्षेत्र में से निकाल कर अलग कर देता है। घासवाली का पति है पर वह जानकर भी कहीं कोई स्पर्धा अथवा द्वन्द्व का भाव नहीं दिवाता, वह भी जमींदार के प्रेम की दिव्यता में सब कुछ समर्पित कर बैठता है।

‘रहस्य’ में मंजुला अपने पति से अपननुष्ट हो गयी है, और विमल के आश्रय में आती है। विमल मंजुला की ओर आकर्षित होता है। पर मंजुला विमल के प्रेम की दिव्यता से प्रभावित होकर उसके कर्म-मार्ग से हट जाती है। उसका पति तो कहीं मार्ग में आया ही नहीं, किसी एक मिस्टर कच्चा से बह हँसी मजाक करती हुई दिवाता पड़ती है। किन्तु विमल में प्रतिद्वन्द्विता का भाव या ईर्ष्या का भाव प्रबल है, कि मंजुला विमल के उच्च आदर्श की दुहाई देकर विमल को उस लुप्त स्पर्धा के क्षेत्र की हवा से भी दूर कर देती है।

‘तथ्य’ में अमृत पूर्णिमा को प्रेम तो करना है और बहुत प्रेम करता है, और अन्त तक प्रेम ही करता रहता है। पूर्णिमा के विवाह से उसे मन में दुःख तो होता है पर पूर्णिमा के पति से वह भी ईर्ष्या नहीं कर पाता और अन्त में पूर्णिमा के वैधव्य-गरिमा-पूर्ण वेष को देख कर उसका प्रेम खो जाता है।

कहानी लेखक ने लिखा है—

“अमृत ऊपर से देखने में तो निस्तब्ध, परन्तु अन्दर हृदय-विदारक वेदना छिपाये हुए खड़ा था। मानो जिस नींव पर उसने जिन्दगी की इमारत खड़ी की थी, वह हिल गई हो। आज उसे मालूम हुआ कि जन्म भर उसने जिस वस्तु का तथ्य समझ रक्खा था, वह वास्तव में मृगतृष्णा थी, अथवा केवल स्वप्न था। पूर्णिमा के इस विकट आत्म-संयम और तपस्वियों के आचरण के सामने उसकी समस्त वासनाओं और प्रेम की उमंगों का नाश हो गया था।”

ऐसे कहानी में किससे स्पर्धा हो सकती है ?

‘धर्म सकट’ लीजिए, यह प्रेम की कहानी नहीं, रसिकता की कहानी कह जा सकती है। कामिनी विवाहित है, पर रूपचन्द पर मोहित हो जाती है। वह उसे अपने घर रात में बुलाती है। रूपचन्द पकड़ लिया जाता है। कामिनी रूपचन्द के विरुद्ध गवाही देती है। वस्तुतः यहाँ भी कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं।

‘स्मृति के पुजारी’ में तो महाशय होगिलाल के अपनी पत्नी के स्मृतिपत्र जवन की लगन और व्यथा का कथा है। एक दूसरी स्त्री उसके पति करुणा और सद्गुणभूति लेकर आती है, पर उन्हें ‘डग’ नहीं पाते। फलतः कहानी में प्रतिद्वन्द्विता का प्रश्न नहीं उठता। एक स्त्री तो मृत हो चुकी है, उसकी स्मृति की भी प्रतिद्वन्द्विता, गानसिक-भर भी, लेखक नहीं दिखाना चाहता।

‘घोन्ना’ में राजकुमारो प्रभा एक योगी पर विमोहित हो गयी है। पर उसका विवाह होता है, नौगढ़ के राजा हरिश्चन्द्र से। अपने पति से उसका हृदय उस पूर्व प्रेम के कारण नहीं मिल पाता। पर यो गी से कोई स्पर्धा या प्रतद्वन्द्विता कहीं नहीं। हो भी कैसे ? योगी और राजा हरिश्चन्द्र में कोई भेद नहीं।

विद्रोही में कृष्ण की प्रेयसी अरवागदत्ता तारा का विवाह दूसरे व्यक्ति से होजाने पर कृष्ण आत्मन्म अविवाहित रहता है, विरह की आग को सहता है, तारा को और तारा के पति को दोष नहीं दे सकता ।

तो इन कहानियों में तीसरा व्यक्ति ऐसा है, जो या तो कथा में कोई भाग नहीं ले पाता, या भाग लेने बढ़ता भी है तो स्पर्द्धा से परे हो जाता है ।

किन्तु, विश्राम, मर्यादा की वेशी, आहुति, विद्रोही, हार की जीत, दो सखियां, कैदी, सती में यह तीसरा व्यक्ति कुछ करने के लिए चलता है ।

‘विश्वास’ में जब कि गवर्नर मिस्टर जौहरी की प्रेयसी मिस जोशी वस्तुतः आपटे के प्रेम में बिक जाती है, तो गवर्नर आपटे के साथ सखी करने को उद्यत होता है । मर्यादा की वेदी में भाजावाड़ की कुमारी प्रभा को जब चित्तोड़ का राजा भोज ले जाता है तो प्रभा का पेमी राजकुमार छिपकर प्रभा के पास पहुँचकर उसे अपने साथ ले जाना चाहता है, या वहीं उसे मार डालना चाहता है, ‘आहुति’ में रूपमणि के लिए आनंद भी व्यग्र है, चाहे वह विश्वम्भर के मार्ग में बाधा न डाल सके, पर वह रूपमणि को प्रलोभन तो देना ही चाहता है ।

दो सखियों में पारवात्य प्रणाली के जीवन में मस्त रहने जाने दम्पति पद्मा और विनोद के प्रेममय जीवन में कुछ तनाव देख कर भुवन भी वहाँ ठहरने के लिए उत्सुक हुआ मिलता है ।

‘कैदी’ में आडवन ओलोठम्क और उनकी प्रेमिका और विवाहित हेलने के बीच ऐमनाक आ ही जाता है, इसी प्रकार ‘सती’ में मुलिया और कल्लू दम्पति के प्रेममय जीवन में कल्लू का

चचेरा भाई भी बवंडर लाने का प्रस्तुत हो ही जाता है, 'बेरया' में माधुरी पर सिंगारसिंह तो मुग्ध हैं ही, दयाकृष्ण भी बीच में आ जाते हैं पर दयाकृष्ण या सिंगारसिंह में जब प्रतिद्वन्द्वता का बीज पैदा हो कि माधुरी, विरोध की धुरी ही विलीन हो जाती है।

'हार की जीत' के आरम्भ में शारदाचरण के वक्तव्य से ऐसा विदित होता है कि केशव उसका संभवतः प्रतिस्पर्द्धी है, पर शीघ्र ही वह कथा-प्रवाह से अलग हो जाता है, सुशीला भी लज्जावती की प्रतिद्वन्द्वी हो सकती थी, पर उसे भी लेखक ने अलग हटा दिया है। इस कहानी से तो प्रतिद्वन्द्वनी के प्रति स्पष्ट अरुचि सिद्ध हो जाती है।

पर ये सब क्रियाशील अन्य पुरुष या पर पुरुष हैं, और इन के हांते हुए भी कहानी में प्रतिस्पर्द्धा या प्रतियोगिता का भाव कहीं प्रबल नहीं हो पाता। कारण स्पष्ट है, प्रेमी और प्रेमिकाओं में से एक अपना निश्चित मत स्थिर कर लेता है, और आगे प्रतिद्वन्द्विता के लिए समाज की व्यवस्था में कोई स्थान नहीं रह जाता, अथवा प्रेम की दिव्यता में प्रतिस्पर्द्धा का विकार शान्त हो बैठता है। मत निश्चित हो जाने से दूसरे प्रतिस्पर्द्धी में उत्साह ही नहीं रह जाता। समाज व्यवस्था से विवाह सम्बन्ध हो जाने से प्रेमी प्रेमिका की ओर अग्रसर ही नहीं हो सकता, उसे रुक जाना पड़ता है, फिर अपने प्रेम को पुनः संजीवित करने का भी अवसर नहीं मिलता। कारण इसका भी है, न तो समाज में कोर्ट-शिप की प्रथा है, न मंत्रियां विवाहोपरान्त समाज में गतिमान मिलती हैं, वे अपने घरों में घिर जानी हैं उस पर भी प्रेम जब उद्धार बनकर सामने खड़ा हो जाता है तो कौन अपनी स्वार्थमय लुब्ध भावना को लेकर संकुचित होने के

लिए उद्यत होगा ।

अतः यह स्पष्ट है कि प्रेमचन्द की प्रेम-कहानियों की टेकनीक उन प्रेम-कहानियों से भिन्न है जो त्रिकोणात्मक होती है ।

प्रश्न यह उपस्थित होता है कि त्रिकोणात्मक टेकनीक को प्रेमचन्द जी ने क्यों नहीं अपनाया, वे किसी प्रतिद्वन्द्वी को क्यों नहीं खड़ा कर सके । फिर उनकी टेकनीक क्या है ?

पर इन प्रश्नों पर विचार करने जाते हुए भा. हमें यहाँ पढ़ने उनकी सम्पूर्ण प्रेम कहानियों की विषय-वस्तु का वर्गीकरण करना होगा ।

प्रेम की व्यवस्था में कम से कम दो व्यक्ति चाहिये । उन दो व्यक्तियों में पहले तो यह देखना होगा कि प्रेम कब होता है और उस प्रेम की परणति क्या है ? प्रेम में जो दो व्यक्ति हैं वे स्त्री और पुरुष ही हो सकते हैं । दूसरा कोई सम्बन्ध प्रेम में नहीं आ सकता । प्रेम होने के दो स्तर हो सकते हैं । एक दूसरे को देखना और प्रेम करना आरम्भ हुआ, फिर मिलन । दूसरा मिलन पहले फिर प्रेम ।

‘मिलन’ का अर्थ क्या हो ? भारतीय प्रणाली में ‘मिलन’ का स्त्री-पुरुष में एक ही अर्थ है, वह है ‘विवाह’ । अन्य कई सभ्यताओं में मिलन और विवाह एक नहीं ।

प्रेमचन्द की इन कहानियों का एक वर्ग तो ऐसा है कि जिसमें प्रेम होता है पर वह विवाह तक नहीं पहुँच पाता । इन कहानियों में या तो प्रेम बढ़ कर विवाह की स्थिति तक पहुँचता है—स्त्री-पुरुष, पति-पत्नी रूप में सम्बद्ध हो जाने को होते हैं, कि एक को मृत्यु से किसी सामाजिक या कौटुम्बिक अड़चन से, दैवी दुर्घटना से, विवाह संस्कार हो नहीं पाता,

और कहानी रुक जाती है। 'कायर' में कुल मर्यादा और जाति बीच में आजाता है, तब प्रेमिका को मर जाना पड़ता है। 'कल्पना-तरु' में दैव दुर्घटना से दोनों अलग कर दिए जाते हैं। 'विस्मृति' में कुल की लज के कारण भाई के हाथों बहिन का प्रेमी मौन के घाट उतारा जाता है। 'मर्यादा की जेदी' में प्रेमिका दूसरे पुरुष के आश्रित हो जाती है, और उसे मर्यादा के लिए प्रेमी की उपेक्षा करनी पड़ती है। 'आगापीछा' में पति का उत्तरदायित्व लेने के लिए तैयार प्रेमी मानसिक दुर्बलता का शिकार हो कर विवाह से पूर्व ही प्राण-विमर्जित कर देता है। 'वेश्या' में भी इसी मानसिक दुर्बलता के शिकंजे में प्रेमी का मन फँस जाता है, जिसे मानवती प्रेमिका सह नहीं पाती, और मृत्यु का कवल बन जाती है।

कहीं पर यह विवाह में इस लिए परिणत नहीं हो पाता कि या तो प्रेयसी पूर्व विवाहित है और साथ ही उसका गृहस्थ-सत्त्व से विकसित रूप रसिकता को पावनता में परिमार्जित कर देता है। वासना भस्म हो कर उज्ज्वलता में स्नात हो उठती है, जैसे 'वासवाली' में, अथवा जैसे 'धर्म सकट' में पुरुष को स्त्री अपने प्रेमी का प्रलोभन देती है, पर वह स्त्री पूर्व विवाहित है, और प्रेम पुरुष को उसके कुलटापन का दण्ड भोगना पड़ता है। वह अपने प्रेम को प्रेम अदालत के समक्ष कह नहीं सकता, चोर होना स्वीकार कर लेता है, और तब विवाह का प्रश्न कैसा? अथवा प्रेम की परिभाषा की परिणति विवाह में करना युगल प्रेमियों को स्वीकार नहीं; जैसे 'मिस पद्मा' में अथवा लेखक दोनों प्रेमियों के होनेवाले संबंध के लिये विवाह जैसे संस्कार की अपेक्षा नहीं करता, जैसे 'विश्वास' में मिस जोशी से इन शब्दों में उसने उस सम्बन्ध को स्पष्ट व्यक्त करा दिया है।

“आपको अल्टयार है कि आपटे को काले पानी भेज दें,

फौसी पर चढ़ा दें लेकिन इसका मुफ्त पर कोई अन्त न होगा। वह मेरे स्वामी हैं। मैं उनको अपना स्वामी समझता हूँ”, और विधिवत विवाह के संस्कार तक कहनी को नहीं लाया गया, अथवा जैसे ‘आहुति’ में कवि प्रेम के लिए गुण का दिखाने वाली परिस्थितियाँ उद्घोषित करके स्त्रा के डग में गत प्रेम को एक ओर दृढ़ता से प्रभावित करके ही कहानों का अन्त कर देता है। जहाँ प्रेमी या प्रेयसा पूर्व विवाहित हैं उन कहा नियों को छोड़कर शेष में प्रेम विवाह की ओर अपने प्रेमी का और पतको निश्चय अपना कर लेने या अपना समर्पण उमेकर देने की ओर ही ले जाता है, और उसमें विवाह केवल कहानों की देहनों के कारण ही अतुलित हो गया है। कहानी, इन कहानियों में विवाह से पूर्व की कल्पना, में ही कहानी रहता है।

दूसरे वर्ग में वे कहानियाँ आती हैं, जिनमें दो प्रेमियों में से एक का विवाह हो जाता है। ‘विद्रोही’ ही म प्रेयसी का विवाह दूसरे पुरुष से हो जाता है। फलतः प्रेमी जीवन और जीविका से विद्रोह कर बैठता है। ‘तथ्य’ में प्रेमी जब अपने प्रेयसी को, अपने विवाहित पति का स्वता समझकर अपना सर्वस्व समर्पित करते देख अपने प्रेम की अतुलना और कतुर से सन्न हो उठता है।

तीसरा वर्ग यह है जिसमें प्रेम के उदय के उपरान्त प्रेमी अपने अर्भक का प्राप्त कर लेते हैं, वे विवाहित हो जाते हैं।

‘ज्योति’ में मोहन रुमिया को प्रेम करने लगता है, किन्तु मोहन की माँ पूरी बाधा पहुँचाती है पर रुमिया का प्रेम और सेवा स्थिति बदल देती है और बूढ़ी की बाधा भी दूर नहीं हो जाती वह स्वयं मोहन और रुमिया के विवाह का तैयारी कराती है। ‘दिल की रान’ का उल्लेख ऊपर हो ही चुका है। ‘हार की जीत’ में शारदाचरण और लज्जावती में प्रेम है। वे विवाह के

लिए मग्न है, कि एक सुशीला पर शारदा मुग्ध हो जाता है पर लज्जावती अपनी प्रेमण्य सेवा से शारदा को जीत लेती है। 'धिक्कार' में वधवा मानी से इन्द्रनाथ प्रेम करने लगते हैं। गोकुल की सहायता से दोनों का विवाह हो जाता है, हालाँकि अन्त में मानी को अपने प्राणत्याग करने पड़ते हैं।

'दो कठों' में भी यही कहानी है। प्रोफेसर राजेन्द्र लोचना को प्रेम करने लगते हैं। और उनसे विवाह भी कर लेते हैं। भले ही मानी की भाँति लोचना को भी समाज और कुटुम्ब के असौहार्द में अपनी मृत्यु का आलङ्कार करना पड़ता है क्योंकि वह वेश्या की पुत्री है। 'लैला' में भी नादिर का प्रेम लैला को जीत लेता है, वह रानी बन जाती है पर अन्त में यहाँ भी विच्छेद है।

'भौभाग्य के कोड़े' तो सुखान्त ही है। बचपन में एक राय साहब के लड़की को अपने गौरव नथुआ पर सहानुभूतिपूर्ण प्रेम था। वह नथुआ एक दिन धनी संगीतज्ञ हुआ और तब उसी लड़की रत्ना ने उससे विवाह किया।

'स्ती' में वीरा चिन्ता ने अपनी रक्षा करने वाले हितैषी एक वीर को पति बना लिया। भले हों कहानी दुःखान्त हो क्योंकि चिन्ता में इस तरह रुसम हो गया कि उसका पति युद्ध क्षेत्र में भाग आया था।

फिर वह वर्ग है जिसमें विवाह सम्बन्ध के उद्भवन की घटना दिखायी गयी है, और उनके द्वारा या तो प्रेम का उदय या प्रेम के दिव्य स्थिति का ज्ञान होना है। 'गृह-कलह' में गृह-कलह से परेशान गृहपति को संगीत में प्रेम का सन्देश मिलता है। 'शिव' में वसुधा अपने पति की रुचि में अपनी रुचि दिखा कर पति का प्रेम प्राप्त करती है। 'नेउर' में बुढ़ापे में भी बुढ़े और

बुढ़िया में प्रेम है, जो धन और आभूषणों से कहीं बढ़कर है : 'अभिलाषा' में पति-पत्नी के विवाहोपरान्त प्रेम की अभावाभाव जनित सन्तुष्टि के प्रति असन्तोष दिखाते हुए भी प्रेम की चमक का प्रभावशाली अस्तित्व दिखाया गया है।

'प्रेम के उदय' में तो पति का पत्नी की इच्छाओं की पूर्ति के लिए संकट में प्राण फँसा लेने से पत्नी का प्रेम जागृत हो उठता है। 'सती' तो विवाह द्वारा मिले अपने काले रंग वाले पति को पतिव्रत से प्रेम करती रहती है। 'स्मृति का पुजारी' अपनी विवाहिता पत्नी की मृत्यु के उपरान्त उसकी स्मृति में ही मग्न रहती है। 'दो साख्यो' में चन्दा और आनन्द विवाह के साथ ही प्रेम में बिक जाते हैं, यद्यपि एक दूसरे को दोनों में से किसी ने पहले देखा नहीं था। इसी प्रकार 'घोखा' में राजकुमारी प्रभा पहली जिसे प्रेम करती, विवाहोपरान्त उसी को अपने पति के रूप में पाकर कृतार्थ हो लेती है।

एक वर्ग उन कहानियों का भी हो सकता है जिनमें विवाहितों से प्रेम किया गया है। 'घासवाली', 'रहस्य', 'धर्मसंकट' ऐसी कहानियाँ हैं। इन पर ऊपर विचार हो चुका है। इनके अतिरिक्त ऐसी भी कहानियाँ हैं, जिनमें प्रेम और इन की तुलना में प्रेम ने धन के समस्त अपना बलिदान नहीं होने दिया। 'कुसुम' ने अपने पति से प्रेम चाहा, पर उसने केवल इसलिए कि सुसुराल वालों ने उसे दङ्गलेंड नहीं भेजा, उस प्रेम को ठुकराया और यह जानने पर कुसुम ने अपने पिता को वह रुपया नहीं भेजने दिया। ऐसी भी कहानियाँ हैं, जहाँ प्रेमी ने अपनी विश्वासघातिनी प्रेमिका को भी क्षमा करने की उदारता दिखलायी है 'कैदी' उसका उदाहरण है। पूर्व के त्याग और सेवामय प्रेम के विवाहित जीवन की तुलना भी 'उन्माद' में

लेखक कर गया है और प्रेम का वह रूप भी है, जहाँ पत्नी पति को सर्वस्व मानते हुए भी कर्तव्य और वचन के लिए उसकी अपनी इच्छा से बलि चढ़ा सकती है, जैसा 'पाप का अग्निकुण्ड' कहानी बतलाती है।

तो यहाँ पर यह प्रेम कहानियों का वर्गीकरण समाप्त हो जाता है, और अब हमें इस प्रश्न का उत्तर देना ही होगा कि प्रेमचन्दजी ने प्रेम कहानियों की प्रचलित प्रणाली क्यों नहीं अपनायी ? क्यों प्रायः तीसरे व्यक्ति को प्रतिद्वन्द्विता के लिए खड़ा किया ही नहीं और जहाँ खड़ा किया भी है, वहाँ वह भी प्रतिद्वन्द्वी क्यों नहीं हो सका ? कैदी में रामनाथ को 'सती' में राजा को, 'दो सखियों' में भुवन को, 'वेश्या' में दयाकृष्ण को, 'विश्वा' में मिस्टर जौहरी को, 'मर्यादा की वेदी' में राम या मंदार को, और 'सार की जीत' में सुशीला को वह प्रतिस्पर्धी नहीं बना सका।

कई बार जैनेन्द्र जी से प्रेमचन्दजी ने कहा था 'जैनेन्द्र हम समाज के साथ हैं, समाज में हैं' और इन शब्दों में स्पष्ट ही उन्होंने अपनी ही नहीं अपने साहित्य की सीमा और सीमावद्धता (limitations) बतला दी। वे हिंदी में लिख रहे थे और उन्हें अपने उत्तरदायित्व का पता था कि हिंदी राष्ट्रभाषा है। वह जिस बात को कहें, वह सबके गले उतरनी चाहिए और तब उन्होंने सोचा कि प्रेम की कहानियों में क्या किया जाय ? उन्होंने अपनी कहानियों में कई प्रकार के प्रेम का चित्र उपस्थित किया है : एक प्रेम वह है जो कैदी नाम की कहानी में है। जो रूसी कहानी है, इस प्रेम में दिव्यता तो है पर महानता और शुद्धता नहीं। मानव मन की भाँति चंचल है यह, जो कमजोरी में विश्वासघात तक जा पहुँचता है। यह प्रेम कर्म, वैभव और

गति पर निर्भर करता है। दूसरा प्रेम है 'लैला' कहानियों का। हृदय की तरल भावुकता में डूबा हुआ या रूपशक्ति पर निर्भर। गम्भीर है निश्चय ही, पर जिसमें अपने अतिरिक्त दूसरे को चाह नहीं, दीवानेपन को लिये हुए है यह। तीसरा प्रेम है 'कामना-तरु' का अलौकिक दिव्य भी, महान भा। जीवन के सत्व और जीवनमय गम्भीर स्थिर जीवन की परम्परा में बिधा हुआ भारतीय भक्ति का उन्मादकारी, सर्वभ वसय, सर्व-समर्पणमय, काव्य-मधुर। और, चौथा प्रेम है—'उन्माद' के त्याग और सेवा की प्रेरणा से जो रंजित है और इन्हीं का जो पर्याय हो गया है, जो दूसरे के रूप, गुण, कर्म को न देख कर अपनी शक्ति पर ही जीवित है, पावनमय गंगा के सदृश; जिसमें जो स्नान करे, वही पावन हो जाय। उन्होंने प्रेम के उस रूप का भी उल्लेख किया है, जो व्यवसाय और अधिकार के आधार पर भी चलता है, और उस प्रेम का भी जो स्वतन्त्र रहना चाहता है। व्यवसाय और अधिकार वाला प्रेम पुरुष का अपने साथ सामञ्जस्य नहीं चाहता। मान के शिखर पर नहीं, स्वार्थ के शिखर पर चढ़ा हुआ, जो उसका अपने इङ्गितो पर नाचने वाला, सर्वस्व समर्पण करने वाला चाहता है। स्वतन्त्र प्रेम जो विवाह को जीवन का व्यवसाय बनाने में धृष्ट करता है, जो भोग में किसी नैतिक बाधा का अनुभव नहीं करता, वरन् भोग को केवल देह की एक भूख, प्राकृतिक आवश्यकता (physical necessity) समझता है। प्रेम के इन रूपों के प्रति वे सहानुभूति नहीं दिखा सके। ऊपर के प्रथम चार कोटि के प्रेम की व्यवस्था में भी उन्हें त्याग और सेवा का पर्याय प्रेम ही भारतीय-संस्कृति, भारतीय-समाज का मूल सार विदित हुआ, और वस्तुतः यही प्रेम उन्होंने प्रेम समझा और इसीकी कहानियाँ लिखीं। यह मानना पड़ेगा कि इस प्रेम पर किसी जाति का अपना अधिकार नहीं, भले ही वह

हिन्दुओं के द्वारा विकसित हुआ हो। तो अपनी कहानियों में इसी प्रेम को उन्होंने प्रधानता दी। अब यह प्रेम किन भावनाओं के साथ चलता है। वस्तुतः त्याग और सेवा स्वयं प्रेम की प्रेरणायें ही हैं, ये केवल स्त्री और पुरुष को बाँधने में नहीं, सृष्टि भर को बाँधने में समर्थ हैं। यह प्रेम की गान्धोवादी दार्शनिकता है और इसका उपयोग सर्वत्र मिलता है। पर स्त्री-पुरुष में यह सम्बन्ध 'सत' से विशेष आवद्ध है, यौन समस्याएँ इस प्रेम में गौण हैं क्योंकि यौन स्वतन्त्रता पर नहीं, मानव-संस्कार पर यह प्रेम निर्भर करता है। मानव-संस्कार के लिए कोई जाति या वर्ग विशेष नहीं, सभी पात्र हैं। 'सती' और 'प्रेम का उदय' जैसी कहानियों में इन जातियों के पात्र तक लेखक ने लिए हैं, जो यों संस्कृति की निम्नतम शृंखला पर पड़े हुए हैं। इस मानव-संस्कार से प्रेम की भाँति हो जाता है, और यह प्रेम शक्तिवान् होता है पर किन्हीं आकार और रूप पर ही उसे अग्रह नहीं, वह फूट की भाँति किसी वृत्त पर किन्हीं परिस्थितियों पर खिल उठता है, पर वह मानी का कूड़ा होते हुए भी माली के ही गले का द्वार बने सो बात नहीं, जिस देवता पर भी चढ़ जाय वहीं वह अपनी लफ्फतता समझता है इस प्रेम में चढ़ जाने से पहले तक कोई विकार नहीं। स्थिति अत्यन्त तरल है, पर चञ्चल नहीं, मान भी नहीं, चढ़ जाने पर या चड़ा दिए जाने पर इसमें निश्चित विकार हो जाता है, तब प्रेम का अवलम्ब प्रेमी से पति बन जाता है, प्रेम बढ़ कर भक्ति में परिणति हो लेता है।

यह प्रेम व्यवसाय नहीं, उन्माद नहीं, प्रतिदान नहीं, समर्पण है, जिसे भी समर्पित कर दिया जाय, फिर यहाँ आ कर प्रति-द्वन्दी क्या लेगा ?

प्रतिद्वन्द्विता जिस स्थायमय संकोच के साथ चलती है, उसमें जिस लोलुप रसिकता की आग प्रज्वलित मिलती है, वासना की चरम उद्दीप्ति और चरम विकलता इस प्रेम के सत-आत्म-सौन्दर्य की पावनता के समक्ष स्वतः लुब्ध हो उठेगी, ठहर कहां पायेगी ?

यही कारण है। प्रेमचन्द की प्रेम-कहानी की टेकनीक बदली हुई है वस्तुतः यदि प्रेम-कहानी में त्रिकोणात्म्यता रख कर प्रेमचन्द ने अपनी कला प्रदर्शित की होती तो उससे वे प्रेम के केवल मनोवैज्ञानिक क्षेत्र के उतार-चढ़ाव और यौन समस्याओं को ही प्रकट कर पाते। प्रेम के मानवीय और वैज्ञानिक तत्व को ही ला पाते, अथवा प्रेम के व्यसन को ही बता सकते। आज यदि प्रेम का अवरोध है तो वह व्यक्तियों, प्रतिस्पर्द्धियों के उतार चढ़ाव के कारण नहीं। प्रेम यदि क्रिया जा सकता है तो किसी से भी किया जा सकता है, और यदि उदय होता है तो जिसके लिए उदय होगा उसीके लिए होगा अतः वह स्वयंभू होगा। दोनों दशाओं में प्रतिस्पर्द्धा से प्रेम का रूप नहीं, चाह का रूप निखरता है, चाह का संस्कार या कुपंस्कार होता है। प्रेम का अवरोध तो समाज, वातावरण और स्थिति से होता है। इसे प्रेमचन्द जी ने भली भाँति समझा है, और उसने व्यक्ति-संघर्ष की अपेक्षा सामाजिक स्थिति से संघर्ष कराया है, जैसे वह कहता हो, व्यक्तिरूप में हम चेतन्य हैं और चेतन हैं हम परस्पर समझौता कर सकते हैं। 'विद्रोही' में इस समझौते का उत्पीड़क रूप हमें दिखाई पड़ जाता है, कृष्ण और तारा में प्रेम है और अत्यन्त प्रेम है, उनका विवाह तक हो जाता पर दहेज के प्रश्न ने न होने दिया। कृष्ण निराश मारा मारा फिरने लगा। तारा की उधर शादी होगई, जब बहुत दिन बाद

जलता कुढ़ता वह किसी प्रकार तारा के पति से मिला तो पता चला कि तारा बहुत सुखी और प्रसन्न है, और उसने तारा के पति से सुना—

‘तारा आपको अब भी उसी मुद्बत से याद करती है। शायद कोई दिन ऐसा नहीं जाता कि आरका जिक्र न करती हो। आपके प्रेम को वह जिन्दगी की सबसे प्यारी चीज समझती है। आप शायद समझने हों कि उन दिनों की याद करके उसे दुःख होता होगा। बिल्कुल नहीं। यही उसके जीवन की मधुर स्मृतियाँ हैं। वह कहती है—“मैंने अपने कृष्ण को तुम में पाया है” यह पति और प्रेमी की भावना में समझौता ही नहीं, समन्वय भी है तो हम चेतन हैं, यह कर सकते हैं। पर ये जड़ रुढ़ियाँ और स्थितियाँ ही हमारा घात करती हैं, उनसे ही हमें असहिष्णु होना है, उनसे ही विद्रोह करना है। वे ही कहानी में प्रेमचन्द की टेकनोक का अंग बन कर आती हैं, और कहानी को कहानी का रूप दे देती हैं।

प्रेम की परिणति विवाह में हो—स्थायी मिलन में—यह तो प्रेम की उपरोक्त परिभाषा का उपनिष्कर्ष है। यह भी एक बड़ा कारण है जिससे प्रेमचन्द की कहानियाँ प्रेम के घात-प्रतिघात उपस्थित नहीं कर सकीं। विद्रोही में ही एक स्थान पर लेखक ने यह मत प्रकट कराया है। कृष्ण के शब्दों में—

“अब मुझे ज्ञात हुआ कि स्त्री कैसे पुरुष पर नियंत्रण कर सकती है। कुत्सित को भी कैसे पवित्र बना सकती है। एक दूसरे से बातें करने में एक दूसरे के मामले बैठे रहने में हमें असीम आनन्द होता था। फिर प्रेम की घातों की जरूरत वहाँ होती है, जहाँ अपने अखंड अनुराग, अपनी अतुल निष्ठा, अपने पूर्ण आत्मसमर्पण का विश्वास दिलाना होता है।” ऐसी अवस्था

में भी प्रतिस्पर्द्धा के लिये स्थान नहीं रह जाता ।

पर प्रेम की इस परिभाषा के रहते हुए भी समाज के कारण जो समस्यायें उपस्थित होती हैं वे कम नहीं । समस्या 'जाति' की है । प्रेम जाति नहीं मानना पर हिन्दुओं में, भारत में जाति-व्यवस्था है । जाति-व्यवस्था प्रेम नहीं मानती-वह प्रेम के अंकुर को क्या वृक्ष तक को कुचल डालने की सामर्थ्य रखती है । इसी के साथ साथ गंठजोड़ा किया कुल-मर्यादा ने । दहेज की प्रथा भी है जो धन को प्रेम और सत से भी अधिक महत्त्व देती है और भीषण अवरोध उपस्थित करती है । प्रेम के साथ रूप, रंग और आकर्षण का भी प्रश्न है । प्रेम के साथ वरया जाति की ओर भी ध्यान जाता है । प्रेम करने की पूर्व और पाश्चात्य प्राणलियों को भी देखना होगा । प्रेम के ऊपर भी किसी का महत्त्व है या नहीं, यह भी एक विचारणीय बात है । प्रेम और रसिकता में भी अन्तर है ही ।

तो ये सभी बातें प्रेमचंद की प्रेम-कहानियों में आयी हैं, और इन सब वर्तमान गूढ़ और जड़ तथा अपरिवर्तनवादी अवस्था के प्रति घोर असंतोष प्रकट कराया है । और उसकी आत्मा ने घोर अवसाद में भर कर अपना सिर पटक पटक कर कई बार आत्म-हत्या कर डाली है । समाज की जड़ रूढ़ियाँ, हमारे मस्तिष्क के उनके आधार पर बने जड़-संस्कार, हमारी मर्यादा की निर्जीव या भारी लौह शृंखलायें तो वहाँ हैं, और वे हैं, तो प्रेम क्या करे, इनमें अपने को खो दे? समझौते और समन्वय की गुँजायश है: पर क्या सभी से समझौता कर लेना होगा? इसे समाज के पालतू प्राणी क्रान्ति पथ पर आरुढ़ हो नहीं पाते और यदि उन्हें लेखक क्रान्ति पथ पर लेजाय, तो उसके प्रेम के उज्ज्वल रूप की यथार्थ परिभाषा विकृत हो उठे -तब

ऐसे प्रेम को अपना इतन करना ही पड़ जायगा। यही कारण है कि उनके अनेकों पात्र विफल होकर मृत्यु का आलिङ्गन कर गये हैं। अपना शिकायत बतलाते हुए श्री प्रकाश जो ने लिखा है कि—

शुरु में तो मुझे ऐसा खयाल हुआ कि लेखक की लेखन-कला का यह दोष है कि वह अपने पात्र को बाहर निकाल न सके और अन्त में उसकी अभिलाषा पूरी न कर सके; पीछे मैंने अनुभव किया कि भारत के वर्तमान जीवन में यह अनिवार्य है।”

कहानियों की भूमिका —

“इसी अवस्था की कहानियों में राजनीति भी भूमिका अथवा कथानक में विशेष उभर कर आयी है। भारत में जिन विविध आन्दोलनों ने राजनीति के क्षेत्र में हलचल मचा रखी थी वे आन्दोलन प्रेमचन्दजी ने आन्दोलनों की दृष्टि से नहीं लिए, वे आन्दोलन व्यक्ति-जीवन से सम्बद्ध होकर आये हैं। व्यक्ति का कहानी में उनका जो स्थान बना है उसी का दिग्दर्शन कहानीकार ने कराया है। फलतः ये कहानियाँ आन्दोलन की कहानियाँ नहीं, कहानियाँ व्यक्तियों की ही हैं। इनमें प्रधानता है कपिस द्वारा संचालित आन्दोलनों, आदर्शों और सिद्धान्तों की। पहले घर में होने वाले दृश्य लीजिए। पुरुष आदर्शवादी सेवक है, धन की गिता नहीं करता। तन, मन, धन सभी उसने देश के लिए दे रखे हैं। स्त्री इससे सहमत नहीं। वह दुखी है और निरन्तर वह दुःख अनुभव करती है। केवल पति का जर्जर मृत्यु पर वह उस चिनगारी का मूल्य समझ पाती है जिसमें उसके पति तिल-तिल कर जले। देश-सेवा के उस स्थिति का चित्र यहाँ दिया गया है जिसमें स्वार्थ से सीधा संघर्ष है, जिसमें

त्याग ही प्रधान है। यह तो सीधे उस घर का चित्र है जिसमें स्वयं कार्यरुता है। ऐसे ही घर का एक और दृश्य है जहाँ पुरुष के पकड़े जाने पर स्त्री निराश्रय रह जाती है। भय के कारण उसके नातेदार तक उसे सड़ारा देने को तय्यार नहीं। पुरुष के पकड़े जाने का कारण भी विशेषता लिये हुए है। वे इसलिए पकड़े गये कि उन्होंने स्वराज्य के स्वयं-सेवकों को शरबत पिलाया था। बस, इसकी स्त्री को आश्रय दिया पति के मित्र ने। सरकार ने जब उस पर धार किया तो उसने मुकने की बजाय वीरता का प्रदर्शन किया। मित्र की स्त्री को घर से निकालना स्वीकार नहीं किया, नौकरी छोड़ना स्वीकार किया। ऐसी कहानियों से उस आन्दोलन की यथार्थता का पता चल जाता है, और यह भी विदित हो जाता है कि वह किस धरातल पर चल रहा है। क्या घर क्या बाहर स्वराज्य का आन्दोलन एक विशेष प्रकार के व्यक्ति के लिए ही है, जिसे उस आन्दोलन में बाहर मित्रों और शत्रुओं से ही नहीं घर में भी लड़ना पड़ता है। पिकेटिंग के भी दृश्य हैं, जिनमें सौदागरों के साथ सहानुभूति दिखाते हुए भी राष्ट्रीय आवश्यकता को प्रधानता दी गयी है। शराब और कपड़ों की पिकेटिंग के भी दृश्य हैं। कपड़े की पिकेटिंग के साथ को कहानीकार ने रोमांस का पुट भी दे दिया है। पति महोदय पत्नी के लिये विदेशी कपड़े की साड़ी खरीदते हैं, पिकेटिंग हो रहा है, उनमें उनकी स्त्री भी है। लज्जित हो पति महोदय भी आन्दोलन में क्रियात्मक भाग लेने को सन्नद्ध हो जाते हैं। ऐसे ही एक युवक को देशव्रत के लिए दीक्षित देख एक युवती दूसरे विलासी युवक को त्याग कर उसे प्रेम करने लगती है

*ताबान

इहोली का उपहार

और उमी स ग को पथिक बन जाती है ।S

कहानीकार ने राजनीति के कार्यकर्त्ताओं की अन्तरंग दुर्बलताओं को भी बड़े कौशल से प्रकट कर दिया है । X कुछ कार्यकर्त्ता परस्पर ईर्ष्यामय बानालाप से कार्यकर्त्ताओं की व्यक्तिगत दुर्बलताओं को कुरेद कुरेद कर उभाते हैं, वहाँ भीतरी दुर्बलताएँ स्पष्ट हो जाती हैं ।

गांधीवादी अथवा क्रिस्तीय राजनीतिक कार्यक्रम-आन्दोलन पर इस प्रकार प्रकाश डालते हुए, कहानीकार ने राजनीति के दूसरे मिद्धान्त साम्यवाद पर भी दृष्टि डाली है । कई कहानियों में प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष रूप से साम्यवाद को स्थान मिला है । क्रिस के राष्ट्रीय आन्दोलन की सैद्धान्तिक परीक्षा कहानियों में प्रेमचन्दजी ने नहीं की । वह तो उनके सामने एक मान्यता की भौति है । इस मान्यता का कारण यह भी हो सकता है कि यहाँ मिद्धान्त कार्य बन कर ही आया है; कहानियों में उन कार्यों के विविध प्रभाव और रूपों को दिखाकर उनके सम्बन्ध में सुगुण अथवा कुरुचि जागृत करके जैसे कहानीकार ने कार्य के मूल मिद्धान्त का ही आलोचना का दी है—उस आलोचना के उपरान्त इसी पक्ष को प्रबलता देने में भी यह सत्य स्पष्ट है कि कहानीकार उसका पोषक है ।

साम्यवाद के सम्बन्ध में यह बात नहीं है । साम्यवाद को परिहास का भी साधन बनाया गया है । 'पंडा माटेराम की हायरी' के प्रथम भाग में भी यही बात, और नशा में भी । 'नशा' में 'साम्यवाद' पर टिप्पणियाँ नहीं, पर वह कहानी कच्चे साम्यवादियों का रूप प्रकट करने अथवा उन परस्मियों को

सुझाने के लिए लिखी गयी हैं जिनमें पड़ कर साम्य के सिद्धान्त बघारने वाला मनुष्य फिसल सकता है। आदर्श और यथार्थ का इतना विभेद दिखाकर दोनों को पास लाने के उद्योग की प्रेरणा के लिए भी नशा का चित्रण हो सकता है।

व्यवस्थापिका सभाओं के सदस्य भी छूटे नहीं हैं। 'कानूनी-कुमार' नामक कहानी ऐसे ही लोगों पर एक व्यंग्य है। जरा सी बात हुई और कानून बना डालने का स्वप्न दिखाई दिया।

ऐसी कहानियाँ भी प्रेमचन्द जी ने लिखी हैं जिनमें मजदूर और पूंजीपति का संघर्ष उगस्थित हुआ है *। खून खराबी होती है, कानूनी की सजा भी दी जाती है, अन्त में आध्यात्मिक स्पर्श और ईश्वरीय चमत्कार के द्वारा हृदय-परिवर्तन से समस्या का अन्तिम हल होता है।

यूनान की एक कहानी देकर कहानीकार ने देशद्रोही के प्रति घृणा और निर्मम-व्यवहार का दिग्दर्शन कराया है। † 'देशद्रोही' की 'माँ' ने भी अपना कठोर हृदय कर देश के लिए, अपने पुत्र को द्रोह का कठोर दण्ड देने के लिए जनता को उरसाया है। 'लैला' में सत्तावाद और 'प्रजावाद' का संघर्ष है, जिसमें प्रेम-कहानी के आधार पर यह प्रत्यक्ष कराने की चेष्टा प्रेमचन्द जी ने की है कि दोनों साथ साथ नहीं चल सकते।

रियासतें भी उपेक्षित नहीं रही। एक कहानी में ही प्रेमचन्द जी ने रियासतों की अंतरंग स्थिति उपस्थित कर दी है। प्रायः उसके सभी पहलू उसमें आगये हैं। रियासतों राजा समय काटने और बाह्यवादी लूटने के लिये साम्यवाद की ओर भी

* डामुल का कैदी

† धिक्कार

अपनी रुचि दिखा सकते हैं, वह भी उनके विलास—वाक्-विलास का एक विषय हो सकता है। पर वे अपने सुख और विलास की मात्रा में कमी नहीं कर सकते, सिद्धान्तों के सहारे भी वे अपनी आलाचला और विरोध नहीं सह सकते। अपने प्रत्याचारों को ठके रखने के लिये उन्हें ब्रिटिश एजेण्ट की खुशामद करनी पड़ती है, उसके सेवा-सत्कार में उन्हें बढ़-चढ़ कर प्रदर्शन करने ज़ोर है। उनके प्रसन्न हो जाने के बाद फिर उनकी पों बारह हैं। ऐसे राजाओं के नीचे कोई भी आत्मा-भिमानी व्यक्ति काम नहीं कर सकता। राजाओं का क्रोध दूसरे की स्थिति पर सहानुभूति पूर्वक दृष्टि तक नहीं डालना चाहता। + राज्य के लिये न्याय और नीति का कोई अर्थ नहीं।

इसी अवस्था की कहानियों में साम्प्रदायिक समस्या पर कहानीकार ने लेखनी उठायी है। एक कहानी में एक गाँव का मुसलमान शहर पहुँचता है। वह हिन्दू-मुसलमान का साम्प्रदायिक अर्थ नहीं जानता। यह मुसलमान दोनों सम्प्रदायों की वास्तविकता को कसौटी बन गया है। वह मुसलमान होकर लम्बा पड़ता है, रोज़ा रखता है, पर मुसलमानों द्वारा किसी हिन्दू स्त्री का अपमान नहीं सह सकता। स्त्री को हिन्दू होने के नाते भ्रष्ट करने की धात में उसे कहीं मुसलमानियत या धर्म नहीं दिखायी देता। वह हिन्दुओं की शरण में जाता है, पर हिन्दुओं के द्वारा मुसलमान पीटा जाय, अन्याय पूर्वक, केवल इसलिए कि वह मुसलमान है, वह नहीं सह सकता। लेखक ने यह स्पष्ट कर दिया है कि साम्प्रदायिक विष ने मजहब के यथार्थ मानवीय मूल-तत्वों को भस्मसात् कर दिया है। इस बुनियाद पर जो निर्माण होगा वह फूट का ही घर होगा। फिर 'चमा' और 'दिल की रानी' और 'न्याय' कहानियों में मुसल-

मान धर्म में विद्यमान यथार्थ करुणा को कहानीकार ने प्रत्यक्ष कराया है, जिससे इस्लाम की महानता के प्रति श्रद्धा उत्पन्न होती है। यों इन कहानियों में राजनीतिक घगतल पर सीधे साम्प्रदायिक प्रभाव की प्रतिक्रिया का नहीं उल्लेख नहीं। इन सभी कहानियों में पारस्परिक प्रेममय भावभूमि उत्पन्न करने की ओर संकेत है। हिन्दुओं के अछूतोंद्वारा और मुसलमानों की तबलीग जब प्रेमचन्द जी की कहानी का विषय बने हैं तब उन्होंने दोनों के हृदयकणों को स्पष्ट किया है। यह भी निर्देश किया है कि धार्मिक जोश और प्रचार ठोस सेवा और त्याग का सामना नहीं कर सकता। साम्प्रदायिक हिन्दुओं को यदि अपने धर्म का इतना ध्यान है तो अछूतों को निर्विकार सेवा करें।

कल्ल और भी प्रश्न ऐसे हैं जिन पर प्रेमचन्द का ध्यान देना पड़ा है—और वे जैसे उनके साहित्यकार का मोर्चा बन कर आये हैं। स्वतन्त्र-प्रेम, पाश्चात्य-पद्धति और उमका भारतीय घर पर आक्रमण वे सहज भाव से नहीं सह सके हैं। अपने ढंग से उन्होंने इन सब की आलोचना करा डाली है। 'स्वतन्त्र-प्रेम' का परिणाम हमें 'पद्मा' में मिलता है। प्रेमचन्द जी ने यह मान लिया है कि प्रेम कहीं न कहीं स्थायित्व चाहता है, और वह स्वातंत्र्य पुरुष की आर से सम्भव भी हो, पर स्त्री के लिए नहीं। स्त्री जब मातृत्व प्राप्त करती है, तब स्वतन्त्र-प्रेम का आधार ही लुप्त हो जाता है। स्वतन्त्र-प्रेम में स्वतन्त्र रूप से किसी प्रेमी को अपना लेने के लिए जो सौदा होता है उसमें स्त्री को ही ठगाना पड़ता है। 'मिस पद्मा' सम्बन्धी कहानी के सम्बन्ध में यह आपत्ति की जा सकती है कि उसमें पुरुष को जितना

कठोर और विश्वासघाती दिखाया है, वह एक असम्भवना है, और कहानीकार ने उस पात्र पर भी और उसके द्वारा कहानी के विषय पर भी अन्याय किया है। साधारणतः प्रेमचन्द की बुद्धि गुण-दर्शन की ओर हा रहती है; जब वे किसी के दोष ही देखने की भुक्तें तो यह आशंका होती है कि वे उस सम्बन्ध के बालिकसिद्धान्त से मतभेद रखते हैं। वे उसे भारत और उसकी समाज तथा अन्ततः मानव-मात्र के लिए भी हानिकर समझते हैं। यही बात इस कहानी के सम्बन्ध में भी है।

इसी के साथ वे जब पार्श्व-जीवन-प्रणाली पर दृष्टि डालते हैं तो उन्हें वह भी खोखली विदित होती है, विशेषकर भारतीय मनोवृत्ति के लिए। पार्श्व-संस्कृति में नारी को गौरव देकर पति को जो स्थान समाज में प्रदान कराया है वह भारतीय पति (पुरुष) नहीं चाह सकता, स्त्री भी नारत्व मात्र रख कर ही उसे ग्रहण कर सकती है। जिसे घर कहते हैं, और जिसकी संभाँ उस प्रत्येक सदस्य का अपनी सीमाओं से एक दम अभिन्न है, जिसमें पति-पत्नी स्त्री-पुरुष होने के नाते ही पति-पत्नी है, अन्यथा गृह-प्रबन्ध की दृष्टि में पुत्र-पुत्रियों के समकक्ष है और समानाधिकारी ही है, उस घर का केन्द्र पार्श्व-प्रणाली में नहीं रहता। भारतीय घर का अपनत्व चिर और अटूट अपनत्व है—उसे कानून भी भग्न नहीं कर सकता—वह सृष्ट्युपर्यन्त रहता है, इस घर में विवाह होकर स्त्री और पुरुष इसी भाँति मिलते हैं जिस भाँति पुत्र पैदा होकर, माता और पिता की मिलता है। पुत्र ठेके में खरीदा हुआ सदस्य नहीं। वह तो प्रकृति के चक्र में स्वयं उद्भूत होकर माता-पिता से अनिवार्य नाता जोड़ता है, जिस सन्धार की कोई भी शक्ति यथार्थ में नहीं तोड़ सकती। ऐसे ही स्त्री-पुरुष की मिलती है और पुरुष स्त्री को, जिसमें दोनों में से एक के भी हाथ में कोई

स्वतंत्र इच्छा नहीं। पाश्चात्य-प्रणाली में 'घर' का यह अर्थ नहीं, वहाँ ऐसी अविच्छिन्नता नहीं, ऐसा अटूट सम्बन्ध नहीं; अतः वहाँ घर का प्रत्येक व्यक्ति अपना-अपना अपनत्व रखता है, एक विशेष निजी शिष्टाचार से प्रत्येक अपने को घेर कर रखता है—मान-अपमान और खुशामद के ऐसे दृश्य उपस्थित होते हैं जो एक दूसरे को अधिकाधिक अलग करते जाते हैं। स्त्री अपना व्यक्तित्व अलग विकसित करती है पुरुष अलग—इस अलग-गोँव में घर का व्यक्तित्व शून्य हो जाता है—प्रेमचन्द्री इसे अवाञ्छनीय समझते हैं। भारतीय घरों पर इस विदेशी घर ने आक्रमण किया है और उसके कटु दृश्य प्रेमचन्द्री की लेखनी से कहानी बन कर निकल पड़े हैं। भारतीय दम्पते पर इनका प्रभाव दिखाने के दृश्यों के अतिरिक्त, ऐसे दृश्य भी हैं जहाँ किसी भारतीय ने किसी अंग्रेज स्त्री से ही विवाह कर लिया है। ऐसी कहानों में प्रेमचन्द्री की धारणा यह रही है कि पाश्चात्य प्रणाली में विवाह स्वयं एक station in life जिंदगी में विशेष स्थान प्राप्त करने का साधन है। ऐसे विवाह होते मिलेंगे जिनमें संपत्ति प्राप्त करने के लिए ही किसी स्त्री को बरण किया गया है। स्त्रियाँ और पुरुष दोनों ही ऐसे साँप की तनाश में रहते हैं जो अपने किसी न किसी प्रकार के प्रभाव से उसे ऊँचा स्थान देता सक। भारतीयों से विवाह करने वाली विदेशी महिलाओं में गोन-लिप्सा को पूर्ण करने की भी प्रबल कामना देखी जाती है। यही मान्यताओं के साथ प्रेमचन्द्री ने कहानों लिखी हैं। फलतः ऐन विवाह का अन्त सुखद नहीं हो सकता।

भारतीय विवाह-पद्धति को आँख बन्द कर प्रेमचन्द्री ने ग्रहण नहीं किया, न उन्होंने उसकी शरत् को भाँने सुन्दर रूप में व्याख्या ही करनी चाही है। उसके दोष उन्होंने खोल कर रखे

हैं। वे विवाह में परिवर्तन चाहते हैं, पर पाश्चात्य की तुलना में भारतीय सशेष प्रणाली भी वहीं श्रेष्ठ है, ऐसा प्रेमचन्द की कामत प्रतीत होता है।

दूसरी अवस्था की कहानियों तक प्रेमचन्दजी को ईश्वर में पूरा विश्वास था, ऐसा प्रतीत होता है; और वे उसके अनुग्रह को मानते हैं। 'आत्माराम' नामक कहानी में ईश्वरीय अनुग्रह का पूर्ण विधान प्रकट हो जाता है। यह भाव आगे बढ़ने पर कम दाने लगा है। ईश्वर की दया में विश्वास घटने लगा है* वे ईश्वर पर अविश्वास भी करते प्रतीत होते हैं। पर यह नास्तिक भाव पुष्ट हुआ नहीं मिलता। हाँ यह भाव अवश्य प्रबल हो गया है कि यदि ईश्वर है भी तो वह बड़ा क्रूर है। 'डामुल के कैद' में जो कटु दृश्य हैं वे प्रेमचन्दजी की लेखनी से अन्यथा नहीं निकल सकते थे।

हास्य और विनोद इस अवस्था में विशेष उभरा है। मोटे-राम जी प्रायः इसी काल की सृष्टि हैं, और वे खूब हैं। मोटेराम सम्बन्धी कहानी को लेकर कहानीलेखक को कचहरी तक घसीटा गया, जिसमें उसका यथार्थता निर्विवाद सिद्ध हो जाती है। मोटेराम जी के द्वारा कहनीकार ने कितने ही मोर्चों पर काम किया है। अवसरवादी स्वार्थपरायण व्याक्ति और नेता से लेकर साम्यवादी और कॉंग्रेस के आन्दोलन तक में मोटेराम का काटूना काम करता मिलता है। 'सत्याग्रह' में कॉंग्रेस के कार्यकर्त्ता द्वारा रिश्तत में चवन्नी दिलाना, मोटेराम के साथ जुट-नंति से काम लेना, उनकी कमजोरी का उपयोग करना कैसा गम्भीर व्यंग है? सबसे अधिक आक्रमण कराया है, मोटेराम के द्वारा पण्डित-पन्थ या पण्डा-पन्थ पर। क्रूर से क्रूर आक्रमण कराने में

मी प्रेमचन्द को हिचक नहीं हुई। स्त्री को पुरुष बनाकर ले जाना और अपने बालकों को अलग-अलग पिताओं के पुत्र बनाना एक अद्भुत कल्पना लगती है, पर इस पण्डा-पन्थ की कितनी ही अद्भुत यथार्थताएँ हमसे भी विलक्षण हैं, उनके सामने तो यह घटना निरी मृत्यु विदित होती है। उनको विनोदमयता सर्वग्राही है। वह अग्र भी है; नश्वर लगाती है गहरा। ऐसी ही कहानियों को देख कर एक ओर से यह प्रचार पिया गया था कि प्रेमचन्दजी घृणा के प्रचारक है। निश्चय ही प्रेमचन्दजी ने 'घृणा' को बीभत्स रस के स्थायी भाव की भाँति परिपुष्ट नहीं किया। किन्हीं भी कहानी में घृणा, घृणा बन कर नहीं आयी। फलतः बीभत्स उनकी कोई भी कहानी नहीं हो सही। जहाँ घृणा का स्पष्ट भाव कार्य करता दिखायी पड़ता है, वहाँ वे उसकी वर्जना ही करते हैं। 'कुत्सा' नाम की कहानी में जब दूसरे कार्य-वर्त्ताओं की निन्दा से एक शुद्ध हृदया आलिका के हृदय पर घृणामय संस्कार बनना चाहते हैं, तब वे भूँठ (मिथ्या) का सहारा लेकर भी घृणा का भाव पैदा नहीं होने देते। उनकी अधिकांश कहानियों में यही बात मिलेगी। पर 'हास्य' के समय विनोद के समय प्रेमचन्दजी में उग्रता अवश्य आ जाती है। प्रेमचन्दजी को संसार में स्पष्ट ही दो प्रकार की गति दिखायी पड़ती है, एक प्रतिगामी, दूसरी प्रगतिमयी। प्रतिगामी प्रवृत्तियों स्वयं ही अपना उपहास करती हैं, उन्हें केवल उचित भूमिका और सज्जा में रख देने की आवश्यकता है। इन कहानियों में प्रेमचन्द ने यही किया है। हास्य और विनोद के उनके विषय ही प्रतिगामी क्षेत्र से लिये हुए हैं।

प्रेमचन्दजी की प्रगतिवादिता भी (unqualified) शुद्ध नहीं है। प्रेमचन्दजी यथार्थतः विकास और सुधार में आस्था रखते हैं, क्रान्ति में नहीं। फलतः जीवन के भारतीय मूल-संस्कारों

की अच्छाई और उपयोगिता में उन्हें पूरा विश्वास है। वे उसे विशृंखलित नहीं देख सक्ता। भारतीय विशाह-पद्धति और भारतीय दृष्टि में प्रेम का मूल्य बड़ा नहीं बिाडने देना चाहते। उस पर होने वाले आक्रमण को भावे प्रतिगामी समझते हैं और उसका उपवास उड़ाने में नहीं आते। 'गिनाद' नाम की कहानी में यह उपहास किनना उग्र है। इसी प्रकार वे मानते हैं कि प्राचीन रूढ़ियाँ भी प्रतिगामी हैं। वे संस्थाएँ आज एक दम उपहासास्पद हो गयी हैं जो समाज के विद्यान में किसी प्रकार का सहारा नहीं देती, और मनुष्यों को भाँति दूमरों के परिश्रम पर जीवित हैं। उन संस्थाओं में इसी कारण 'पतन' अपनी चर-मावस्था को पहुँच गया है। मोटेरामजी जैसे डिम्भधारी भारतीय समाज में आज कितने नहीं हैं? वे एक अक्षर पढ़े नहीं, आदिम अन्त तक कहीं भी आध्यात्मिक प्रकाश नहीं; उनकी बातों में अनय विशृंखलता और भोंडापन अत्यन्त उभरा हुआ है—फिर भी समाज उन्हें अपने ऊपर आगेपित किये हुए है। भोजन जुटाने की समस्या उनके लिए इतनी विकट है कि बस उनके समस्त च्योम उमी के लिए होते हैं, लोलुपता उनमें घर कर गयी है और इसके लिए वे हीन से हीन साधनों का उपयोग कर सकते हैं। तो ऐसे दृश्यों को प्रेमचन्दजी ने हास्य और विनोद का विषय बनाया है। साइकिल से गिरते हुए मनुष्य को देखकर पहले हमें हँसी आती है फिर करुणा का उदय होता है और हम उसकी सहायता को लपकते हैं। प्रेमचन्द जी की हास्य कहानियों को पढ़ कर पहले हँसी आती है, फिर उनकी कहानी के विषय में परा-काष्ठा देख का फुफुकी आ जाता है—उमी को हम घृणा कहते हैं। यह घृणा यथार्थ में इन संस्थाओं के प्रति आज हम सब में विद्यमान है—प्रेमचन्द ने हमारे मन को हो खोल कर रख दिया है। चन्नों ने घणा का प्रचार नहीं किया हमारे मन के घाव को खोज

कर रख दिया है। हम जिस-जिसको घृणा करते हैं उस उसको उन्होंने हमारे सामने खड़ा कर दिया है, आंर पूछा है, 'सच बताओ उन पर तुम हँसते हो या घृणा करते हो?' इसके उत्तर में--व्यक्ति उन्हें बदनाम करने को कहते हैं कि प्रेमचन्द घृणा के प्रचारक है। उल्टा चोर कोतवाल का इसी प्रकार डाँटना है।

इस अवस्था की कहानियों में एक और विशेषता दृष्टि पड़ती है। मनुष्यों के टाइप स्वयं कहानी के विषय बन कर आये हैं। उससे पूर्व की कहानियों में व्यक्ति गौण था, कहानी और कथा प्रधान थी, चरित्रों का चित्रण कथा के क्रम और अनुपात से होता था, व्यक्ति और चरित्रों का उपयोग कहानी के लिए था। अब व्यक्ति उभर आया है, उसके विशेष व्यक्तित्व को ही उसने कहानी का विषय बना डाला है। अब वह कहानी के लिए नहीं है। कहानी उसके लिए लिखी गयी है 'ईदगाह' कहानी का बालक 'हामिद' 'स्मृति के पुजारो' के प्रेमी महोदय, 'कजाकी' कहानी का 'कजाकी' 'नेउर' कहानी का 'नेउर', 'शतरज के बिलाड़ी' के दोनों पात्र, 'लेला' और 'बौडम' कहानियों के बौडम (जड़-भरत), 'हिंसा परमो धर्म' का जामिद, ये सभी विशेष व्यक्तित्व और पात्रत्व लिये हुए हैं। 'कफन' के पिता-पुत्र भा भूल नहीं जा सकते। इनके चरित्र की भाँकियों के लिए हाँ वे कहानियाँ लिखी गयी हैं। इनमें 'ईदगाह' के बालक हामिद और 'कजाकी' कहानी का कजाकी तो कहानी-साहित्य में पात्र-चित्रण के अभूतपूर्व और अनुपम दृष्टान्त हैं। इसी प्रकार स्त्रियों में सुभागी, लैला और हबीब अमर रहेंगी।

इस अवस्था की कहानियों में पूर्व की कहानियों से टेकनीक बिल्कुल बदल गयी है, और उसमें वैविध्य भी बहुत आगया है।

पूर्व और उत्तर पक्ष धीरे धीरे विलीन होगये हैं। कहीं कहीं व्यंग्य अवश्य हैं। विषमता अथवा विरोध मूलक दृश्यों की संयोजना की ओर रुचि विशेष होने लगी है। यद्यपि इसका भी उपयोग अधिक नहीं किया गया।

स्थितियों का गहरा विश्लेषण और उनका जटिल प्रभाव इन कहानियों में परिलक्षित होने लगा है। ध्वान और व्यङ्ग्य से भी पहले की अपेक्षा अब अधिक काम लिया जाता है। संवाद अथवा कथोपकथन द्वारा ही कहानी कह देने के प्रयोग भी इसी अवस्था के हैं, यद्यपि ऐसी कहानियाँ कम ही हैं।

इस अवस्था की कहानियों में निम्नलिखित विविध शैलियाँ मिलती हैं।

(१) आत्मकथा प्रणाली में (अ) 'ढायरी' का उपयोग, जैसे मोटेरामजी की 'ढायरी' में

(आ) पत्र-प्रणाली का उपयोग, जैसे 'दो सखियाँ' नामक कहानी है। प्रत्येक पत्र द्वारा अपनी अपनी आत्मकथा कहती हैं। यह 'पत्र-प्रणाली' उस पत्र-प्रणाली से भिन्न है, जिसमें कथा सूत्र पत्रों के द्वारा ही गुथा हुआ चलता है। प्रेमचन्दजी की यह 'पत्र प्रणाली, आत्म-कथा प्रणाली का ही एक भाग है। दो सहेलियाँ अलग अलग अपना अपनी राम-कहानियाँ कहती हैं। विरोध-मूलक दो सूत्रों की संयोजना का यह बहुत ही सुविधाजनक मार्ग है।

(३) 'कथागत कथा' प्रणाली, जैसे 'प्रेरणा' में एक व्यक्ति अपनी आत्म-कथा कहता है, उसी में दूसरे व्यक्ति की भी आत्मकथा सम्मिलित हो जाती है। गुरु की कथा और है, शिष्य की और। दोनों अपनी अपनी कथाओं का स्वयं निवेदन करते हैं। और बहुत ही दुर्बल तन्तु से ये दोनों कथाएँ एक दूसरे से

गुम्फित हो रही हैं।

(ई) 'शुद्ध'—जिसमें किसी और प्रणाली की मिलावट न हो जैसे 'मेरी पहली रचना' में।

२—मिश्र कहानियाँ—जिसमें कई प्रणालियों से काम लिया गया हो—जैसे 'कुसुम' में साधारण कहानी की प्रणाली के साथ पत्र-प्रणाली भी सम्मिलित है।

३—भाँकी प्रणाली—जैसे 'मनोवृत्ति' में जिसमें यथार्थ कथा-विकास नहीं मिलता। एक दृश्य की भाँकी भर मिलती है।

४—कथोपकथन कहानी—जिसमें सम्पूर्ण कहानी केवल कथोपकथन के द्वारा हा प्रकट की गयी हो। ऐसी एक ही कहानी अत्यन्त सुन्दर बन पड़ी है वह है 'जादू'।

५—साधारण शैली की कहानियों में इस अवस्था में बड़ा परिवर्तन यह हुआ है कि आरंभ के मूलतत्त्व नहीं रहे। कहानी परिचय आदि के साथ आगे नहीं बढ़ती, अब कहानी का सूत्र एकदम आरंभ हो जाता है और बिना किसी प्रपीठिका के ही कहानी पूर्ण गति से प्रभावित होने लग जाती है। दूसरी अवस्था में इस साधारण शैली के जितने भेद मिलते थे, वे सभी किसी न किसी सीमा तक किसी किसी कहानी में अब भी मिलते हैं, पर कहानी के विविध सूत्र दूसरी अवस्था में विशिष्ट रहते थे, वे अलग अलग देखे जा सकते थे, अब वे बहुत गंभिरता पूर्वक एक दूसरे में बहुत ही घुल मिल गये हैं। कहानियाँ पलतः संश्लिष्ट हो गयी हैं।

विसर्जन

प्रेमचन्द की कहानियों का यहाँ तक हमने संक्षिप्त विश्लेषण पूर्वक अध्ययन करने का उद्योग किया है। हमी दृष्टि प्रेमचन्द के अपने निर्माण तरु ही रही है, और उससे हमें हिन्दी कहानी कला की प्रगति का पद पद पर पता चल जाता है। वे आरंभ काल की नवोन्मेषशालिनी शैली को अपना कर उसे शनैः शनैः उच्चतम शिखर पर ले गये; और ऊँचे से ऊँचा आदर्श उन्होंने कला का प्रस्तुत कर दिया। इस रूप में वे यथार्थ में कहानी-कला के अप्रणीत अध्यात्मिक थे; उनसे हिन्दी के प्रेमचन्द-युग के सभी कहानी-कारों ने प्रेरणा और स्पन्दन प्राप्त किया था; और प्रोत्साहन तथा दिशा-निर्देशन के लिए उनमें नये कलाकारों की जो माँग रहती थी, वे उसे निरंतर पूरा करते रहे। कहानी-कला के विविध रूपों का आयोजन उन्होंने इसीलिए किया, इसी लिए उनमें इतना वैविध्य मिलता है, और उस वैविध्य में भी अधिकांशतः वह सुघरता और कला वैभव है जो सहज होकर भी श्लाघ्य और उच्चकोटि का है।

प्रेमचन्द कहानी क्षेत्र में क्रान्तिकारी व्यक्तित्व है। इसने कहानी को अपनी प्राचीन प्रथित परंपरा से निकाल कर सौम्य कला के आमन पर बिठा दिया है। हिन्दू-क्षेत्र में उसे पूर्व के कहानी क्षेत्र में असाधारणता, वैलक्षण्य और कानूनी का विशेष स्थान था। प्रेमचन्द ने उसे मनोवैज्ञानिक भूमि प्रदान की।

साधारणतः कहानीकार अपनी कहानियों के लिए अनुसंधान पात्रों और घटनाओं को चुनता है। उसकी कला वैशिष्ट्य पर ही पलती है। आज का यथार्थवादी भी असाधारण को ही चुनता

है। वह केवल चित्रण में यथार्थ को पकड़ता है, पर जिम भावुक और मर्मस्पर्शी चरित्र का वह कहानी का विषय बनाता है, वह इतना साधारण नहीं कि कुछ भी वैशिष्ट्य न रखता हो वह मज्जदूगों को लेता है, गरीबों को लेता है, पर उनमें से छूट कर एक विशेष मनोवृत्ति वाले को ही। प्रेमचन्द ने आरम्भ में एक दम साधारण पात्रों को और साधारण घटनाओं को चुना। 'साधारण' का अर्थ प्रेमचन्द की कहानी-कला का प्रधान-धर्म है। यह प्रेमचन्दजी का ही कौशल है कि साधारण को भी उन्होंने कहानी का विषय बना दिया। यह कौशल उनकी महानता का द्योतक है। विलक्षण और असाधारण की तो कहानी का विषय बनाना साधारण सी बात है। प्रेमचन्द क महान कहानीकार ने साधारण को भी महानता का मङ्गल प्रदान कर दिया है।

साधारण में एक स्वस्थ व्यापारशीलता मिलती है। सभी पात्र यथार्थ हैं, रूप-रेखा में, आचार में और मान मक गति में। इसने प्रेमचन्द की कहानी-कला का अद्भुत सुन्दरता प्रदान कर दी है। कोई भी पात्र अयथार्थ रूप से न तो व्यर्थ मनोवैज्ञानिक उलझनों में पड़ता है। न विविध अन्तर्द्वन्द्वों के द्वारा मन के विविध व्यापारों का अगाध प्रदर्शन ही करता है। वह जितना स्थूल है, उतना ही स्थूल कहानी में प्रकट हुआ है।

कहानी के समस्त व्यापार में एक मानवीय प्रेम की सुपमा सर्वत्र व्याप्त मिलती है, पर वह प्रेम और रूपमें कभी अग नहीं हुआ। प्रेम कहानियों में पानद्वय पात्रों का अभाव है। प्रेमचन्द ने कहानी कला की पारपाटी के त्रिकोण का कभी प्रश्रय नहीं दिया। उनके सभी पात्र स्वयं प्रेम के पोषक हैं, प्रेम के रोगी नहीं। इस विशेषता ने कहानीकारों में प्रेमचन्द का एक विशेष स्थान बना दिया है।

इन कहानियों में अनेकों अमर-चित्रों और चरित्रों के हमें दर्शन होते हैं। कजाकी, शतरंज के खिलाड़ी, ईदगाह का हामिद, कफन के बाप-बेटे, लैला, बौद्धम, जेवर क्या सभी और लभ्य हैं।

जीवन के सभी पहलुओं का समावेश इन कहानियों में हुआ है। इसमें कोई संदेह नहीं कि घर की अपनी समस्याएँ विशेष रूप से आयी हैं।

सबसे ऊपर प्रेमचन्द की कला में मानवता की प्रतिष्ठा है। जागृत मानवता के जो दर्शन भारतीय धानावण में प्रेमचन्द ने कराये हैं, वह दूसरा कौनसा कलाकार करा सका है? मानव की स्वाभाविक सद्गति के रूप पद पद पर यहाँ हमें हँसते और हड़ता पूर्वक सत्य का आग्रह करते हुए मिलते हैं। प्रेमचन्द की कला में आज भी नवीनता है, उसे हृदयंगम करने की आवश्यकता है।

